वेदान्त दर्शन

— महर्षि व्यास

॥ ॐ ॥

वेदान्त-दर्शन

(सरल हिन्दी व्याख्या सहित)

★

सम्पादक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारों वेद, १०८ उपनिषद्, षट् दर्शन,
२० स्मृतियां और १८ पुराणों
के प्रसिद्ध भाष्यकार

★

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान, बरेली

(उत्तर प्रदेश)

*

प्रकाशक
संस्कृति संस्थान,
बरेली (उत्तर-प्रदेश)

★

सम्पादक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

★

द्वितीय संस्करण
१९६७

★

मुद्रक
हिन्द प्रिंटर्स,
बरेली

★

मूल्य
चार रुपया

★

भूमिका

वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः,
संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले ।
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥❀

वेदों में संसार का जो सर्वोपरि आदिज्ञान भरा हुआ है, उसे मनीषियों ने दो भागों में विभाजित किया है। पहले भाग का नाम है कर्मकाण्ड और दूसरे का है ज्ञानकाण्ड। यों तो वेदों की संहिताओं (मंत्र-भाग) में भी आध्यात्मिक ज्ञान के सर्वोच्च सिद्धान्त पाये जाते हैं, पर इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन उपनिषदो में किया गया है, जिनको वैदिक-साहित्य का अन्तिम भाग माना गया है। उनमें यह प्रतिपादित किया गया है कि संसार में जो कुछ दिखाई पड़ता है और जहां तक हमारी बुद्धि अनुमान कर सकती है, उस सबका मूल स्रोत एक मात्र पर-ब्रह्म ही है। पर उपनिषदो मे यह विवेचन भिन्न-भिन्न ऋषियों ने अपनी-अपनी शैली में किया है, जिससे एक पाठक को उन सब में एक वाक्यता करने में कठिनाई जान पड़ती है। इतना ही नहीं, बाद में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने मत या शाखाओं के समर्थन में उपनिषदों में और भी ऐसे अनेक विषयों को सम्मिलित कर दिया है जिन से ब्रह्म-विद्या का कोई

❀जो वेदान्त ज्ञान द्वारा परमेश्वर को जान चुके हैं और संन्यास तथा योग के द्वारा शुद्ध हो चुके हैं, ऐसे साधक शरीर त्यागने पर ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और परम अमृतत्व का लाभ करके मुक्तात्मा बन जाते हैं। (मुण्डकोपनिषद् ३।२।६)

खास सम्पर्क नहीं। इसलिये इस बात की आवश्यकता जान पड़ी कि उपनिषदों में वर्णित मुख्य तत्त्वों की व्याख्या सुशृंखलित और तर्क संगत रूप में की जाय। 'वेदान्त-दर्शन' की रचना इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये की गई, और इसी आधार पर इसका नामकरण (वेदों का अन्त या तात्पर्य=वेदान्त) किया गया।

वेदान्त-दर्शन के रचयिता 'बादरायण' हैं। अधिकांश धार्मिक हिन्दू इस नाम से महाभारतकालीन महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास का ही आशय समझते हैं। पर आधुनिक विचारों के खोज करने वाले विद्वान 'वेदान्त-सूत्रों' में बौद्ध और जैन सिद्धान्तों का खण्डन देखकर इनको कोई दूसरा व्यक्ति बतलाते हैं। वेदान्त-दर्शन में अपने सिद्धान्त का अन्य सिद्धान्तों से मुकाबला करने के लिये स्थान-स्थान पर 'औडुलोमि' 'काश कृत्स्न' 'आत्रेय' 'आश्मरथ्य' 'कार्ष्णाजिनि' आदि अन्य आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया गया है, जिससे विदित होता है कि 'वेदान्त-दर्शन' की रचना होने से पहले अन्य बहुत से आचार्यों के सूत्र-ग्रन्थ अथवा विवेचन इस सम्बन्ध में मौजूद थे। मध्यकाल में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, ने माध्वाचार्य, निम्बकाचार्य, वल्लभाचार्य, आदि मनीषियों ने भाष्य लिखकर उसका प्रचार किया है, जिनमें सर्वाधिक मान्यता शङ्कराचार्यजी के 'शारीरिक भाष्य' को है और इस विषय में विचार करने वाले विद्वान उसी को अद्वैत-सिद्धान्त का वास्तविक रूप समझते हैं।

दर्शन-शास्त्र की चार श्रेणियां...

दर्शन-शास्त्र का मुख्य प्रयोजन जगत के कारण और उसके क्रम-विकास पर विचार करना माना गया है। इस दृष्टि से हिन्दू धर्म के मुख्य दर्शनों को चार श्रेणियों में बांटा जा सकता है—(१) पदार्थ मतवाद, (२)सांख्य प्रवचन, (३) पूर्वमीमांसा अथवा कर्ममीमांसा (४) उत्तर-मीमांसा अथवा वेदान्त।

(१) पदार्थ भतवाद के अन्तर्गत न्याय-दर्शन और वैशेषिक-दर्शन की गणना की जाती है। ये दोनों ही परमाणुओं को नित्य तथा जगत का कारण मानकर चलते हैं। यद्यपि इन दोनों ने ईश्वर के अस्तित्व से इनकार नहीं किया है, पर वे उसे एक निमित्त कारण ही मानते हैं। वे इतना ही कहते है कि चूंकि जगत मौजूद है, हमको दिखाई पड़ रहा है, तो कोई इसकी रचना करने वाला भी होगा, वही ब्रह्म है। इस तरह इनका सिद्धान्त भौतिकवाद पर ही विशेष रूप से आधारित है, ब्रह्म की सत्ता और स्वरूप का कोई विवेचन उन्होंने नहीं किया है।

(२) दूसरी श्रेणी में सांख्य और योग का उल्लेख किया जाता है। यद्यपि सांख्य ने ईश्वर की सत्ता से इनकार नहीं किया और योग-दर्शन मे तो ईश्वर भक्ति पर काफी जोर दिया गया है, पर उनमें भी ब्रह्म के स्वरूप की चर्चा बहुत कम आई है। अधिक से अधिक योग-दर्शन में उसे "क्लेशों से परे और सर्वज्ञ पुरुष-विशेष" कह दिया है। पर ये दोनों दर्शन प्रकृति को नित्य मानकर जगत की उत्पत्ति उसी से बतलाते हैं और ईश्वर को 'दृष्टा' रूप में स्वीकार करते है। इस प्रकार वे वैशेषिक परमाणुवाद से बढ़कर प्रकृति के २५ या २६ सूक्ष्म तत्वों तक पहुँच गये हैं।

(३) पूर्व मीमांसा के दो विभाग पाये जाते हैं—एक कर्ममीमाँसा दूसरा दैवी-मीमांसा। ये दृश्य-प्रकृति से आगे बढ़कर ब्रह्म-प्रकृति का अनुभव करते हैं। मीमांसा-दर्शन में आत्मा को अमरता और कर्मफल की अकाट्यता का प्रबल समर्थन किया गया है। इसलिये ईश्वर की सत्ता के साथ ही उसने जीव की सत्ता भी स्वतंत्र मानी है। पूर्वमीमांसा-दर्शन आस्तिक होने पर भी जगत और ईश्वर के सम्बन्ध में कोई विशेष बात नहीं कहता।

(४) उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त ही सृष्टि और ब्रह्म, आत्मा और परमात्मा की समस्या को पूर्ण रूप से सुलझाने में समर्थ हुआ है।

उसने स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दिया है कि जगत् में केवल एक तत्व है। यह एक ऐसा ऊँचा सिद्धान्त है कि जिसके आगे वर्तमान विज्ञान-युग का बड़े से बड़ा दार्शनिक भी नहीं पहुँच सका है। हिन्दू-धर्म पर भी इस सिद्धान्त ने अपनी अमिट छाप लगा दी है और इस समय जितने भी वैष्णव और शैव सम्प्रदाय प्रचलित हैं, सब दार्शनिक दृष्टि से वेदान्त के ही इर्द-गिर्द घूमते हैं। एकाध को छोड़कर शेष सभी वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त को थोड़े-थोड़े अन्तर के साथ स्वीकार करते हैं।

इन चारों श्रेणियों से मानव बुद्धि का आध्यात्मिक क्रम विकास स्पष्टतः विदित हो जाता है। जब मनुष्य को दृश्य-जगत् से आगे बढ़कर विचार करने की क्षमता प्राप्त हुई तो सर्व प्रथम उसने ब्रह्म का कार्य देखकर उसके सम्बन्ध में अनुमान किया। फिर ब्रह्म और प्रकृति का पृथक-पृथक रूप में अनुभव किया। तीसरे दर्जे पर पहुँच कर ब्रह्म और प्रकृति की एकता का प्रतिपादन किया। अन्त में सर्वत्र एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता का दर्शन करके 'एक मेवा द्वितीयं' के सिद्धान्त को उद्घोषित किया, जो मानव-मस्तिष्क की अन्तिम पहुँच है।

यही वेदान्त-सिद्धान्त की अपूर्व महनीयता है, जिसके सम्मुख संसार भर के विद्वानों को नतमस्तक होना पड़ता है। यद्यपि दर्शन और विज्ञान का मार्ग अलग-अलग है, और उच्च-कोटि के वैज्ञानिक साधनों का विकास पिछले सौ-दो-सौ वर्षों में ही हुआ है पर विज्ञान हाल ही में जहाँ पहुँच सका है, उसका पता वेदान्त ने केवल बुद्धि बल से हजारों वर्ष पहले लगा लिया, यह कम महत्व और गौरव की बात नहीं है। जिस समय संसार के सभी धर्म मानव-कल्पना द्वारा उत्पन्न और मानव स्वरूप परमात्मा की उपासना में संलग्न थे, उस समय भारतीय तत्वदर्शियों ने ही उपनिषदों में सृष्टि के समस्त तत्वों की पूरी छानबीन करके उस अन्तिम सत्ता का रहस्य समझा दिया जिससे समस्त दृश्य जगत् प्रादुर्भूत होता है और अन्त में उसी में लय हो जाता है। यद्यपि वैज्ञानिक अभी

विश्वोत्पत्ति शास्त्र के सिद्धान्तों का अपूर्ण ज्ञान ही प्राप्त कर सके हैं, जिसके सम्बन्ध में तरह-तरह की शंकायें और आपत्तियां उठाई जाती हैं, पर भारतीय तत्वज्ञों ने हजारों वर्ष पहले निम्न उद्‌गार प्रकट कर दिये थे :—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववास्थितः ।।४।।
सर्व भूतानि कौंतेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ बिसृजाम्यहम् ।।७।।
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतु नानेन कौंतेय जगद्विपरिवर्तते ।।१०।।

(गीता, अ० ९)

अर्थात् —"मैंने (ईश्वर ने) अपने अव्यक्त स्वरूप से इस समग्र जगत को फैलाया अथवा व्याप्त किया है, परन्तु यह आश्चर्य देख कि मुझ में सब भूत (सृष्टि) है पर मैं उनमें नहीं हूँ। कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति में आ मिलते हैं और फिर कल्प के आरम्भ में मेरी अध्यक्षता में प्रकृति ही सब चराचर सृष्टि को उत्पन्न करती रहती है।"

वेदान्त-दर्शन का प्रतिपादन—

वेदान्त-दर्शन जिसको 'उत्तरमीमांसा' अथवा 'ब्रह्म सूत्र' भी कहा जाता है, मुख्य रूप से 'ब्रह्म' के स्वरूप की विवेचना करता है और उसी के सम्बन्ध से उसमें जीव तथा प्रकृति के विषय में भी विचार किया गया है। यह दर्शन चार अध्यायों और सोलह 'पाद' में बँटा हुआ है।

(१) पहले अध्याय में वेदान्त सम्बन्धी समस्त वाक्यों का मूल आशय प्रकट करके उन सब विचारों का समन्वय किया गया है, जो ऊपर से देखने पर एक दूसरे से पृथक और अनेक स्थानों में विरोधी भी

जान पड़ते हैं। पहले पाद में उन वाक्यों को दिया गया है जिनमें ब्रह्म का स्पष्ट कथन है, दूसरे में ऐसे वाक्य हैं जिनमें ब्रह्म का कथन अस्पष्ट है और तात्पर्य उसकी उपासना से है। तीसरे में वे वाक्य हैं जिनमें ब्रह्म का वर्णन ज्ञान रूप में है। चौथे में विभिन्न प्रकार के विचारो से युक्त और संदिग्धभावयुक्त वाक्यों पर विचार किया गया है।

(२) दूसरे अध्याय का विषय 'अविरोध' है। इसमें श्रुतियों की परस्पर विरोधी सम्मतियों का मूल आशय प्रकट करके उनसे अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन सिद्ध किया है। साथ ही सांख्य, वैशेषिक, पाशुपति आदिवैदिक मतानुयायी और बौद्ध, जैन आदि अवैदिक सिद्धान्तों की त्रुटियाँ तथा अवास्तविकता दिखलाई है। आगे चलकर पंचभूत और जीव सम्बन्धी शंकाओं का निराकरण किया गया है और लिङ्ग शरीर, प्राण तथा इन्द्रियों का स्वरूप बतलाया है।

(३) तीसरे अध्याय में साधन का वर्णन किया गया है। इसमें पहले स्वर्गादि प्राप्त कराने वाली साधनाओं की त्रुटि बतला कर ज्ञान और विद्या के वास्तविक स्रोत परमात्मा की उपासना का प्रतिपादन किया गया है जिससे जीव को ब्रह्म लोक की प्राप्ति होती है। इसके लिये कर्मकाण्ड सिद्धान्त के अनुसार किये गये अग्निहोत्र आदि से उद्देश्य पूर्ति नहीं हो सकती वरन् भक्ति और ज्ञान द्वारा ही आत्मा, परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त कर सकती है।

(४) चौथा अध्याय 'फलाध्याय' है क्योंकि इसमें साधना का परिणाम बतलाया गया है। इसमें वायु लोक, विद्युत लोक, वरुण लोक के ऊपर ब्रह्म लोक तक पहुँचने का वर्णन किया गया है। जीवन्मुक्ति, जीवन्मुक्त की मृत्यु, परलोक में उसकी गति आदि का भी वर्णन किया गया है। अन्त में बतलाया गया है कि ब्रह्मलोक प्राप्त होने पर आत्मा किस रूप में रहती है और फिर संसार में लौटकर नहीं आती। यही मुक्ति अथवा निर्वाण की अवस्था है।

इस प्रकार 'वेदान्त-दर्शन' में ईश्वर, प्रकृति, जीवात्मा, पुनर्जन्म, मरने के पीछे की अवस्थाएँ, कर्म, उपासना, ज्ञान, बन्ध और मोक्ष इन दस विषयों पर विचार किया गया है। यद्यपि अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि विभिन्न सिद्धान्तों के अनुयायिओं ने वेदान्त-सूत्रों का अर्थ अपने-अपने मतानुसार करने में शब्दों की बहुत खींचातानी की है, पर समस्त विवेचन पर विचार करने से यही सिद्ध होता है कि जगत का उपादान और निमित्त कारण एक मात्र ब्रह्म ही है। उसका रूप शुद्ध और निर्लेप है, तथा उसमें जो विविधता जान पड़ती है, तरह-तरह के नाम-रूपों का आभास होता है, उसका कारण उसी की माया है जो 'अनिर्वचनीय' है। जो मनुष्य भक्ति और ज्ञान द्वारा उस ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव कर लेता है, वह माया के बन्धन से मुक्त होकर ब्रह्म रूप ही हो जाता है।

वेदान्त-दर्शन और शब्द प्रमाण—

वेदान्त-दर्शन में ब्रह्म निरूपण के सम्बन्ध में जो कुछ विवेचन किया गया है, उस सब में शब्द-प्रमाण को ही प्रमुखता दी है। उन्होंने ग्रन्थ को आरम्भ करते ही दूसरे सूत्र में ब्रह्म को जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण बतलाने के पश्चात् तीसरे ही सूत्र में कह दिया है—

"शास्त्रयोनित्वात्" (१।१।३)

अर्थात् "जो ब्रह्म इस जगत का कारण स्वरूप है, उसका प्रमाण शास्त्र द्वारा मिलता है।" इसका आशय यह है कि ब्रह्म को न तो इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है और न अनुमान से उसका यथार्थ रूप समझा जा सकता है। उसके दिव्य रूप का ज्ञान शास्त्रों द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, जो कि दिव्य-दृष्टि प्राप्त ऋषियों के रचे हैं।

वेदान्त-दर्शन में जगह-जगह मंत्र श्रुति, स्मृति का उल्लेख किया गया है, पर वह केवल संकेत मात्र है। अधिकांश सूत्र तो दस-पाँच अक्षर

के हैं, उनमें यह बात कैसे कही जा सकती है कि दर्शनकार का उद्देश्य किस शास्त्र के किस प्रसंग से है। इससे सूत्रों की व्याख्या करने में बड़ी कठिनाई होती है और यही कारण है कि भिन्न-भिन्न भाष्यकारों ने उनका अर्थ अपने-अपने मतानुसार किया है। इससे वेदान्त-दर्शन के मूल आशय के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद उत्पन्न हो गया है और उसके आधार पर द्वैत और अद्वैत दोनों प्रकार के कई सम्प्रदायों का आविर्भाव हो गया है। इस दृष्टि से वेदान्त-दर्शन के रचयिता 'बादरायण' की लेखनशैली की आलोचना करते हुये एक आधुनिक विद्वान ने लिखा है—

'शब्द प्रमाण' के सम्बन्ध में 'मंत्र', 'श्रुति' और 'स्मृति' का जिक्र पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्र से वेद, श्रुति से उपनिषद् और स्मृति से गीता आदि अन्य प्रामाणिक ग्रंथ अभिप्रेत है। जहाँ कहीं 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' का प्रयोग होता है, वहाँ भी इन्हें श्रुति और स्मृति के अर्थ में ही ले लेते हैं। बादरायण के लिये यदि किसी विषय में शब्द-प्रमाण मौजूद है तो किसी अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं होती। किसी भी प्रकरण में उसे जो कुछ कहना है, उसे कहकर यदि सम्भव होता है तो वह कह देता है—"श्रुति में ऐसा देखा जाता है, इसलिये भी।' अथवा 'यही बात स्मृति में कही गई है।' इस तरह बादरायण का उद्देश्य यह बताना है कि जो कुछ वह कहता है, वह श्रुति और स्मृति के अनुकूल है। बहुतेरे लोग दर्शन का अध्ययन इस दृष्टि-कोण से नहीं करते। वे यह देखना चाहते हैं कि दार्शनिक विवेचन उन्हें क्या प्रकाश देता है?"

वेदान्त का लक्ष्य—

यद्यपि वेदान्त का उद्देश्य जगत के मूल कारण ब्रह्म का अन्वेषण करना है, पर इससे यह समझना कि वह केवल साधु और तपस्वियों के काम की चीज होगी, भ्रमपूर्ण है। यों तो किसी भी देश के साधारण

लोग दर्शन-शास्त्र के प्रयोजन और उपयोगिता को ठीक तरह से नहीं समझते। अनेक लोग तो दार्शनिकों को आधा पागल ही समझते हैं और उनकी बातों को केवल 'आकाश- कुसुम' या ''ख्याली पुलाव'' बताया करते हैं। पर इसका कारण यही है कि उन्होंने कभी दर्शनों के तत्व पर विचार नहीं किया और न उसे समझने की चेष्टा ही की। उन आदिम-कालीन परिस्थिति में पड़ी हुई जातियों और जन समुदायों की बात तो छोड़ दीजिये जिनके जीवन का कार्य केवल किसी तरह भोजन सामग्री प्राप्त कर लेना और प्राण रक्षा करते हुये जीवन के दिन पूरे कर लेना है। पर जो सभ्य, शिक्षित और मानवीय उच्च गुणों से सम्पन्न व्यक्ति हैं, उनके कार्य, व्यवहार और विचार निराधार और बिना किसी निश्चित उद्देश्य के नहीं होते। दर्शन-शास्त्र द्वारा हमको मानव जीवन के जिन सूक्ष्म तत्वों और उसके आदि तथा अन्त का जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसी से हम अपने जीवन लक्ष्य को समझकर तदनुकूल उचित मार्ग को ग्रहण करके मानव-जन्म को सार्थक बना सकते हैं।

जैसा हमने ऊपर कहा है समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों का सारांश वेदान्त है। इसका उद्देश्य है संसार की वास्तविकता की जानकारी प्राप्त करना। अभी तक अधिकांश मनुष्य इन्द्रिय जन्य सुखों, साँसारिक वैभव अथवा धर्म-कर्म द्वारा स्वर्ग के सुखों को प्राप्त करना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ मानते हैं। पर वेदान्त बतलाता है— ये सब सुख स्थायी नहीं हैं। यदि तुम स्थायी सुख अथवा आनन्द के इच्छुक हो तो आध्यात्मिक ज्ञान अथवा ब्रह्म विद्या से ही मिल सकेगा। (ब्रह्म विद्यां सर्व विद्या प्रतिष्ठाम्)। इस प्रकार वेदान्त अन्य सब मत-मतान्तरों, सम्प्रदायों, पंथों के सिद्धान्तों को अपने में समाहित कर लेता है। जहाँ अन्य मत-मतान्तर एक-एक अंग का साधन करने की बात कहते हैं, वेदान्त मूल तत्व को जानने पर जोर देता है, जिस एक को जान लेने पर शेष सब कुछ जान लिया जाय। यही कारण है कि जहाँ विभिन्न सम्प्रदायों अथवा मतों में अपने-अपने मार्ग की

श्रेष्ठता के सम्बन्ध में झगड़े, विवाद हुआ करते हैं, वेदान्त के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात कभी उत्पन्न नहीं होती। इस सम्बन्ध में शृंगेरी मठ (दक्षिण) के शंकराचार्य स्वामी नरसिंह भारती ने अपने एक शिष्य को जो तीन उपदेश दिये थे, वे स्मरण रखने योग्य हैं—

[१] वेदान्त भूतमात्र (समस्त प्राणियों) के सुख की कामना और साधना करता है।

[२] वेदान्त कभी किसी दार्शनिक या धार्मिक सम्प्रदाय से विरोध नहीं करता।

[३] वेदान्त तत्व में दूसरों से विवाद के लिये स्थान ही नहीं है। संसार में किसी भी व्यक्ति या विचार परम्परा पर विजय प्राप्त करने की वह चेष्टा नहीं करता, क्योंकि समस्त विचारों को यह अपना हीं अंग मानता है।

वेदान्त की सत्यता को मान लेने पर भी अनेक लोग उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं। वे कहते हैं कि वेदान्त सिद्धान्त को समझ लेने पर भी प्रकृति के उन्हीं नियमों के अनुसार चलना पड़ता है जिनके अनुसार सभी सामान्य-जन चलते हैं और उसी तरह का कर्मफल भोगना पड़ता है, तब इसके लिये उद्योग करने की आवश्यकता ही क्या है? इसके उत्तर में एक वेदान्ती कहता है कि "इस ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर सब मनोवांछित वस्तुएं मिल जाती हैं "ब्रह्मचित् आप्नोति परम्, सर्वम् तदस्मिन् समाहितम्"—उसे न तो कोई वस्तु अप्राप्य रह जाती है न कोई भय शेष रह जाता है। सत्य तो यह है कि वेदान्त से केवल ज्ञान ही नहीं सम्पूर्ण जीवन की पूर्णता प्राप्त हो जाती है। हमारे अस्तित्व की सार्थकता पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाती है। वेदान्त का अनुयायी 'सत्य' को सम्पूर्ण वस्तुओं से श्रेष्ठ समझता है। वें सब कुछ देकर सत्य की प्राप्ति की ही इच्छा रखते हैं। वे आनन्द के उतने अधिक इच्छुक नहीं होते

जितने कि सत्य के। सत्य ही शेष सम्पूर्ण सिद्धियों का साधन है। इसलिए वेदान्त का प्रथम प्रश्न यही है कि 'सत्य क्या है ?।'

इस प्रकार जो कोई सत्य का अन्वेषण करके वेदान्त के तत्व को समझ लेता है, उसकी एक प्रकार से काया पलट हो जाती है। देखने में वह अपने सब सामाजिक कर्तव्यों का पालन करता रहता है और उसका बाहरी रूप भी दूसरे आदमियों के समान रहता है, परन्तु वह इन सब बातों में अपने मन से निर्लिप्त रहता है। जब उसका स्वार्थ का भाव जाता रहता है, तो किसी कार्य की सफलता-असफलता, हानि-लाभ, सुख-दुःख का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार की मनोवृत्ति के प्रभाव से वह अपने सब प्रकार के कर्तव्य कर्मों का पालन अधिक उत्तम रीति से कर सकता है और समाज का भी एक अधिक उपयोगी सदस्य, एक श्रेष्ठ नागरिक सिद्ध होता है। जो लोग ख्याल करते हैं कि वेदान्त केवल गृहत्यागी, वैरागियों के काम की चीज है अथवा वह मनुष्य को साधु-संन्यासी बना देती है, वे बड़े भ्रम में पड़े हुये हैं। वास्तव में वेदान्त का अनुशीलन मनुष्य के सामने जीवन तथा संसार की वास्तविकता को प्रकट कर देता है जिससे उसका झूठा व्यामोह और आसक्ति की भावना मिट जाती है और वह जो कुछ करता है अपना कर्तव्य या धर्म समझकर पूरे मन से और सच्चे हृदय से करता है। ऐसा काम स्वार्थ-भावना द्वारा प्रेरित होने वाले अन्य मनुष्य के कार्य की अपेक्षा हर तरह से उत्तम, लाभदायक और समाज के लिये हितकारी होगा इसे सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

वेदान्त की सर्वव्यापकता—वेदान्त के सम्बन्ध में यह दावा करना कि संसार के किसी भी मत-मतान्तर या सम्प्रदाय के साथ उसका विरोध नहीं और वे सब उसी तक पहुँचाने के लिये सीढ़ियों की तरह समझे जा सकते हैं, किसी प्रकार का दम्भ या अतिशयोक्ति नहीं है। वह तो प्रत्येक विचारशील व्यक्ति समझ ही सकता है कि इस संसार का आदि कारण कोई

एक ही हो सकता है। यदि एक उसे परमेश्वर कहे, दूसरा विष्णु कहे, तीसरा शिव कहे, चौथा इन्द्र कहे तो उनकी ऐसी विभिन्न मान्यताओं से उसके स्वरूप में अन्तर नही पड़ सकता। इतना ही नहीं यदि पारसी उसे 'अहुरमज्द' यहूदी 'जेहोवा', ईसाई 'गॉड', मुसलमान 'अल्लाह' कहते हैं तो भी कोई मामूली समझ का व्यक्ति भी यह कल्पना नहीं कर सकता कि ये सब अलग-अलग या विभिन्न रूप वाले हो सकते हैं। विभिन्न मज़हबों के अनुयायी अपनी शिक्षा, संस्कार, देश-काल के प्रभाव से उसे किसी रूप में मान लें और किसी भी विधि-विधान से उसकी पूजा, उपासना करलें, पर वह सब एक ही लक्ष्य पर पहुँचते है। वेदान्त की खूबी यही है कि जहाँ अन्य मजहब और सम्प्रदाय वाले अपने सीमित-संकीर्ण दायरे में बँधे पड़े रहे, किसी ने अपने मूल प्रचारक (पैगम्बर) के कथन की आलोचना का ख्याल भी न किया, वहाँ भारतीय ऋषियों ने अति प्राचीनकाल में साहस के साथ यह घोषणा कर दी कि "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (सत्य एक ही है, पर ज्ञानी व्यक्ति उसका तरह-तरह से वर्णन करते हैं।) यद्यपि देश-काल के प्रभाव से हिन्दू धर्म अनेक सम्प्रदायों में विभाजित हो गया, उनकी पूजा-पद्धति, उपासना-प्रणाली, धार्मिक प्रतीक तथा मान्य ग्रंथों में भी बहुत कुछ अन्तर पड़ गया, पर उसका मूल आधार यह 'ब्रह्म की एकता' का सिद्धान्त सदैव स्थिर बना रहा।

वास्तव में वेदान्त की यह अपूर्व विलक्षणता है कि उसमें अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, निर्गुण, सगुण सब का समावेश हो जाता है। यह भारतीय या विदेशी किसी भी धर्म को पराया नहीं कहता। उसकी दृष्टि से मनुष्य मात्र एक ही ब्रह्म का अंश है, सब के भीतर एक आत्मतत्व मौजूद है, इसलिये वह किसी का विरोध कैसे कर सकता है? वह तो गीता के शब्दों में कहता है कि "संसार में ये जो अलग-अलग मार्ग दिखलाई पड़ते हैं, ये सब सत्य हैं और अन्त में मेरे (ईश्वर के) ही पास पहुँच जाते हैं।" यही बात थी कि जब स्वामी विवेकानन्द ने अमरीका में

एकत्रित "सर्वधर्म परिषद" के सामने इस सिद्धान्त की घोषणा की और किसी भी धर्म को गलत न बताकर सबको एक ही लक्ष्य का पथिक बताया तो वहाँ के लोगों की आँखें खुल गईं और उन्हें एक नया प्रकाश मिल गया। इसी तत्व की व्याख्या करते हुये एक लेखक ने कहा है—

"वेदान्त का धर्म विलक्षण रूप से विश्व-धर्म है, क्योंकि वह किसी एक व्यक्ति द्वारा चलाया हुआ नहीं है। जो धर्म या दर्शन किसी एक व्यक्ति का चलाया हुआ होता है वह विश्व-धर्म के लक्षणों से युक्त नहीं हो सकता। किसी दर्शन के विश्वव्यापी होने के लिये सब से पहली बात यह है कि वह अवैयक्तिक होना चाहिये। किसी धर्म का जब तक कोई व्यक्ति प्रवर्तक है, तब तक वह धर्म उस प्रवर्तक के व्यक्तित्व से बद्ध है और इसलिए वह विश्वधर्म नहीं हो सकता। ईसाई धर्म, इस्लाम, बोद्ध तथा अन्य मजहब इसी प्रकार के विशेष धर्म हैं। इन महान धार्मिक सम्प्रदायों के मानने वाले मूल सिद्धान्तों को भूलकर धर्म प्रवर्तक के व्यक्तित्व से बद्ध हो जाते हैं और फिर किसी अन्य धर्म के प्रति आदर भाव नहीं रखते। इसका परिणाम होता है कलह, संघर्ष और अन्याय-अत्याचार, जिससे कि संसार के धार्मिक इतिहास के पृष्ठ रँगे हुये हैं।"

पर वेदान्त-धर्म में कोई कट्टरता अथवा एकदेशीयता नहीं है। वह सब धर्मों के सारतत्व को देखता है और उन्हें अपने पास उचित आसन प्रदान करता है। उसमें संसार के सभी धर्म प्रचारकों तथा दार्शनिकों के मत का समावेश हो जाता है। पश्चिम के प्लेटो, स्पिनोजा, कांट, हेगल, इमरसन, स्पेन्सर आदि सभी पुराने और नये दार्शनिकों के सिद्धान्तों का समर्थन वेदान्त द्वारा किया जा सकता है। यही कारण है कि योरोप के प्रसिद्ध विद्वान मेक्समूलर को वेदान्त का परिचय देते हुये निम्न उद्गार प्रकट करने पड़े थे—

"हमारे हेराक्लिटस, प्लेटो, कांट या हेगेल समेत समस्त तत्त्ववेत्ताओं में कोई भी ऐसा तत्वदर्शी नहीं हुआ, जिसने ऐसी मीनार खड़ी

की हो जिसे तूफान या बिजली का कोई भय न हो। जहाँ एक बार ऊपर चढ़ने के लिये कदम रखा और वहीं यह बात समझ में आ गई कि मूल में 'एक' के सिवा दूसरा नहीं रह सकता और इसलिये अन्त में भी एक के सिवा दूसरा नहीं हो सकता। फिर उस 'एक' को चाहे आत्मा कहिये या ब्रह्म वहाँ आगे पत्थर पर पत्थर रखा पक्का रास्ता बराबर मिलता चलेगा।"

ऋग्वेद में वेदान्त सिद्धान्त—वास्तव में वेदान्त की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि वह किसी एक व्यक्ति या ग्रंथ से सम्बद्ध न होकर अनादिकाल से प्रत्येक 'सत्य' के उपासक को मार्ग दर्शन कराता आया है। वेदान्त सिद्धान्त समस्त भारतीय साहित्य में जगह-जगह बिखरे पड़े हैं और बुद्ध तथा शंकराचार्य से लेकर रामकृष्ण परमहंस तक समस्त महापुरुषों ने जो शिक्षायें दी हैं, वे सब उसी के अन्तर्गत आ जाती हैं। संसार का सबसे प्राचीन ग्रन्थ और ईश्वरीय ज्ञान का आदि स्रोत माना जाने वाला 'ऋग्वेद' भी वेदान्त के तत्वों से भरा हुआ है, और बाद का समस्त साहित्य उसी से अनुप्राणित होकर प्रस्तुत हुआ है। 'ऋग्वेद' की निम्न ऋचा तो वेदान्त की आधार शिला ही मानी जाती है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमाग्निमाहु—रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

अर्थात् "चाहे इन्द्र कहो, (सूर्य) मित्र कहो, अथवा वरुण, अग्नि, गरुड़, यम, मातरिश्वा (वायु) आदि कहो, विश्व में 'सत्य' एक ही है। यद्यपि तत्वदर्शी विद्वान अपने-अपने अनुभव और स्थिति के अनुसार उसका वर्णन तरह-तरह से करते हैं।" एक अन्य ऋचा में इसी बात को दूसरे शब्दों में समझाया गया है—

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्ष सद्धोतावेदिषदतिथिर्दुरोण सत्॥
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जागोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्॥(३-४)

अर्थात् "यह हंस रूप आत्मा ही 'सूर्य' रूप होकर द्युलोक में

निवास करता है, सब प्राणियों के निवास का साधन 'वायु' होकर अन्त-रिक्ष में भ्रमण करता है, 'अग्नि' रूप होकर वेदी में स्थित होता है, सोम-रस बन कर कलश में भरा जाता है। वही आत्मा मनुष्यों, देवों और पक्षियों में है। वही जल-जंतुओं, वृक्ष, पर्वत, नदियों में पाई जाती है। वस्तुतः वही आत्म-तत्व ऋत स्वरूप परमात्म तत्व है।"

वैदिक ऋषियों में वामदेव पूर्ण आत्म-ज्ञानी थे जो वेदान्त सिद्धांत के अनुसार सर्वत्र अपनी ही आत्मा का दर्शन करते थे। जिस प्रकार गीता में भगवान कृष्ण ने संसार के समस्त श्रेष्ठ पदार्थों को अपनी ही विभूति बतलाया है, उसी प्रकार ऋषि वामदेव कहते हैं—

अहंमनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यूञ्जेहं कविरुशना पश्यता मा॥
(ऋ० ३—१)

अर्थात्—"मैं वामदेव प्रजापति हूँ, सबका प्रेरक तथा प्रकाशक सूर्य हूँ, मैं ही बुद्धि का आश्रयस्थल 'विप्र' हूँ, मैं ही कक्षीवान हूँ, मैं ही अर्जुनी का पुत्र कुत्स हूँ, मैं ही त्रिकाल दर्शी कवि उशना हूँ, वस्तुतः समस्त सृष्टि मैं ही हूँ।" इसी सूक्त की एक अन्य ऋचा में वामदेव यहाँ तक कहते हैं कि "जब मैं गर्भ में था तभी से इन इन्द्रादि देवों के जन्म को जानता था।"

ऋग्वेद तथा अन्य तीनों वेदों में भी आत्मा और परमात्मा की एकता दिखाने वाली, अद्वैत तत्व का दिग्दर्शन कराने वाली सैकड़ों ऋचायें मिलती हैं, जिनके भावों की व्याख्या स्वरूप आगे चलकर उप-निषदों की रचना की गई और ब्रह्म-विद्या को एक स्वतंत्र विज्ञान का रूप प्रदान किया गया।

वेदान्त का मूल स्रोत-उपनिषद् :

जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है वर्तमान समय में वेदान्त के

स्रोत उपनिषद् तथा उनके साररूप भगवद्गीता है। उपनिषद् अनेक हैं, पर उनमें से दस-ग्यारह जो वेदाङ्ग माने गये हैं, उनमें ब्रह्म-विद्या का गम्भीर विवेचन किया गया है। यह सत्य है कि उपनिषद् भिन्न-भिन्न समय में और पृथक-पृथक ऋषियों द्वारा निर्मित्त हैं, इससे उनके उपदेशों में कुछ अन्तर दिखाई देता है, पर इस बात में वे सब एक वाक्य हैं कि इस समस्त विश्व का मूल एक ही है और मनुष्य का जीवात्मा भी उसी का अंश है। इस दृष्टि से मनुष्य की आत्मा इस प्रकार से पूर्ण और सच्चिदानन्द रूप है, पर प्रकृति के निकट सहचर्य के कारण वह अपने स्वरूप को भूलकर मिथ्या सुख-दुःख का अनुभव करती रहती है। यदि मनुष्य इस तत्व को अच्छी तरह समझकर तदनुसार आचरण करने लगे तो वह शीघ्र ही इस दीन-हीन और पराधीन अवस्था से निकलकर अपने भाग्य का स्वामी बन सकता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है ?—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसाय एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

अर्थात्—"मनुष्य के हृदय में रहने वाला यह ईश्वर नेत्रों से नहीं देखा जा सकता, वरम् हृदय से देखा जा सकता है और जो उसे इस प्रकार देखता है, वह अमरता प्राप्त करता है।" यह हृदयस्थित परमात्मा कैसे देखा जा सकता है—

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैवच लिङ्गनाशः ।
स भूय एवेन्धन योनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥
स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवंचोयोत्तरारणिम् ।
ध्यान निर्मथनाभ्यासात् देवं पश्येन्निगूढ़वत् ॥
तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतस्स्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसाः योऽनुपश्यति ॥

अर्थात्—अग्नि जब तक इंधन में छिपी रहती है, तब तक वह दिखलाई नहीं पड़ती। परन्तु जब हम प्रयत्नपूर्वक उसे बाहर निकालते

हैं तो वह दृश्यमान हो जाती है। इसी प्रकार ध्यान द्वारा हमारा हृदय-स्थित परमात्मा भी प्रकट हो जाता है। वह परमात्मा हमारे भीतर तिलों में तेल के समान, दूध में छिपे घी के समान, नदी की रेत में छिपे जल के समान, अरणि [लकड़ी] में छिपी अग्नि के समान निवास करता है। जब मनुष्य अपनी देह को नीचे की अरणि और प्रणव [ज्ञान] को ऊपर की अरणि बना ध्यान द्वारा उनका मंथन करता है, तब उनसे हृदय में छिपा हुआ परमात्मा दिखलाई पड़ने लगता है।" परन्तु अधिकांश मनुष्य इस रीति से परमात्मा का साक्षात्कार क्यों नहीं कर पाते, इस सम्बन्ध में कठोपनिषद् में कहा है—

पराँचिखानिव्यतृण त्स्वयंभूः तस्मात पराङ् पश्यति नान्तरात्मन।
कश्चिद्धीरिः प्रत्यगात्मान मैक्षत आवत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्।
पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यान्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते।

अर्थात्—"मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ बहिर्मुख होती हैं, इससे मनुष्य की विचारधारा बाहर की तरफ रहती है और अन्तरात्मा उसको दिखाई नहीं पड़ता। जो थोड़े लोग सच्चा ज्ञान प्राप्त करके अमृतत्व की कामना से अन्तर्मुख हो जाते हैं, वही अन्तरात्मा के दर्शन करते हैं। बुद्धि-हीन पुरुष सांसारिक भोगों के पीछे ही दौड़ते रहते हैं और इसलिये जन्म-मरण के कठिन फन्दे में फँस जाते हैं। परन्तु स्थिरचित्त वाले अनित्य भोगों की कामना न करके सच्चे और स्थायी सुख की खोज करते हैं।"

उपनिषदों में जगह-जगह परमात्मा के स्वरूप का ऐसा विशद वर्णन किया है कि उसकी एकात्मता और सर्वव्यापकता की स्पष्ट प्रतीति होने लगती है। खेद है फिर भी लोग ज्ञान के इस अमूल्य निर्झर की ओर से उदासीन रहकर अपने जीवन को तरह-तरह के दुःखों और अतृप्ति का घर बनाया करते हैं। इस सम्बन्ध में मुण्डक उपनिषद् में कहा है—

"यह समस्त जगत आदि पुरुष का स्वरूप है। सूर्य, चन्द्र, दिशायें, सम्पूर्ण ज्ञान और प्राणियों के जीवात्मा उसी एकमेव सर्वान्तरयामी परमात्मा के अंश और उसके प्रत्यक्षीकरण है। समस्त प्राण शक्ति, समस्त गुण, स्वाभाविक कार्य तथा विहितकर्म उसी एक शक्ति के स्वरूप हैं। उसी से अग्नि, सूर्य, सोम, मेघ और वनस्पतियाँ उत्पन्न हुई हैं। उसी की प्रेरणा से प्राणियों का संयोग होता है और उनकी वंशवृद्धि होती है। पर्वत, समुद्र, नदियाँ, वृक्ष, औषधियाँ और उनके प्राणदायी तत्व—सब उसी सर्वव्यापी और अन्तर्यामी परमात्मा से उत्पन्न हुये हैं।"

भगवद्गीता और वेदान्त—

हिन्दू-धर्म में आध्यात्मिक ग्रन्थों की संख्या इतनी अधिक है और उनमें धर्म के तत्वों का विवेचन इतने प्रकार से किया गया है कि साधारण पाठक उससे कोई सारतत्व या स्पष्ट सिद्धान्त निकाल सकने में असमर्थ रहता है। साधारण लोगों की क्या बात बड़े-बड़े विद्वान भी इस विशाल भूल-भुलैया में जाकर फँस जाते हैं और झूठे-सच्चे तर्क-वितर्क करके और भी अधिक उलझन पैदा कर देते हैं। ऐसी अवस्था में आध्यात्मिक शास्त्रों से कुछ लाभदायक प्रेरणा प्राप्त कर सकने और उसका उपयोग करके जीवन को यथासम्भव उन्नत बना सकने के इच्छुक को केवल 'भगवत् गीता' का ही आश्रय लेना पड़ता है। यही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें आध्यात्मिक ज्ञान की सभी बातों का संक्षेप में और समन्वयपूर्वक समझा कर श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति का मार्ग खोल दिया है। वेदान्त में जिन तत्वों को वेद और उपनिषदों द्वारा अध्ययन और मनन करने में बहुत अधिक समय लगता है, फिर भी जिन सब को एकवाक्यता कर सकना असम्भव-सा प्रतीत होता है, उन तत्वों का दिग्दर्शन गीता में ऐसे सुन्दर और सुबोध ढंग से करा दिया है कि वे पाठक के हृदय में शीघ्र ही घर कर लेते हैं। तभी तो कहा है कि 'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः'

(समस्त उपनिषद् गौएँ के समान है और भगवान कृष्ण उनके दुहने वाले हैं)। 'गीता' में केवल वेदान्त तत्व का वर्णन और प्रतिपादन ही नहीं किया है वरम् उसका व्यवहारिक उपयोग और उससे प्राप्त होने वाले शुभ परिणामों को भी बड़े प्रभावशाली ढंग से बतलाया गया है। गीता में 'वेदान्त' शब्द का स्पष्ट उल्लेख १५वें अध्याय के १५वें श्लोक में पाया जाता है।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्त कृद्वेदविदेव चाहम ॥

अर्थात् "मैं सबके हृदय में अधिष्ठित हूँ, स्मृति, ज्ञान और उनका अपोहन [अर्थात् नाश] मुझ से ही होता है; तथा सब वेदों से जानने योग्य मैं ही हूँ। वेदान्त का कर्त्ता और वेदों का जानने वाला भी मैं ही हूँ।"

अद्वैत वेदान्त गीता का मुख्य विषय है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। गीता-ज्ञान का प्रारम्भ करते ही भगवान कृष्ण ने उच्च स्वर से घोषणा कर दी है—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्यय यस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति ॥

[२।१७]

अर्थात् "तुम उस सत्तत्व को विनाश रहित समझो जो इस सम्पूर्ण विश्व प्रपंच को आत्मरूप से व्याप्त करके सदैव विद्यमान रहता है। इस अविनाशी सत् का कोई विनाश नहीं कर सकता।

आगे चलकर जगह-जगह यही बतलाया गया है कि समस्त जगत एक अनिर्वचनीय, अव्यक्त ब्रह्म से प्रकट होता है और उसी में लय हो जाता है। संसार में उस ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई तत्व नहीं है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

अर्थात्—'हे अर्जुन! अधिक जानने से तेरा क्या प्रयोजन है, सबका सारतत्व यही है कि मैं (परमेश्वर) इस सम्पूर्ण चराचर जगत में अपने एक अंश से व्याप्त हूँ और उसे धारण किये हुए हूँ।"

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ (१५—७)

अर्थात्—"इस देह में यह जीवात्मा मेरा (ईश्वर का) ही अंश है और वही इस त्रिगुणमयी माया द्वारा रचित मन और पांचों इन्द्रियों को आकर्षण करता है।"

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ (४-६)

अर्थात्—"मैं (ब्रह्म) अविनाशी और अजन्मा होने पर भी तथा सब भूत-प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को आधीन करके माया से प्रकट होता हूँ।"

पर जैसा हम कह चुके हैं गीता का यह अद्वैतवाद कोरा शाब्दिक या वाणीविलास मात्र नहीं है। गीता इस ज्ञान का जीवन में उपयोग बतलाती है और उस प्रकार के व्यवहार द्वारा मुक्ति का रास्ता दिखलाती है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनिचैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
इहैवं तैर्जितः सर्गोयेषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थितः॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढ़ो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ (५।१८-२०)

अर्थात्—"जिन्होंने सच्चा ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे ज्ञानीजन सबको समभाव से देखने वाले होते हैं चाहे वह श्रेष्ठ ब्राह्मण हो या अधम समझा जाने वाला चाण्डाल, अथवा गाय, हाथी, कुत्ता आदि कोई छोटा जीव। इस प्रकार जिनका मन समभाव में स्थित हो गया है वे जीवित अवस्था में ही संसार से मुक्त समझे जाने चाहिये, क्योंकि सच्चिदानन्द परमात्मा भी निर्दोष और समदृष्टि रखने वाला है। इससे वे अपने व्यवहार द्वारा परमात्मा में ही स्थित रहते हैं। जो व्यक्ति प्रिय समझी जाने वाली वस्तु को प्राप्त करके खुशी से फूल नहीं जाता और अप्रिय को पाकर दु:खी नहीं होता, ऐसे स्थिर बुद्धि और समत्व भाव वाले को ब्रह्म में स्थित ही समझना चाहिए।"

इस प्रकार गीता वेदान्त-सिद्धान्त के आधार पर मनुष्य को संसार की आसक्ति और उससे उत्पन्न होने वाले तरह-तरह के दूषित मनोभावों का निराकरण कर उसे ऐसा जीवन व्यतीत करने का मार्ग-दर्शन करती है जिससे वह अपने जीवन को उच्च, सुख-शान्तिमय बनाते हुए समाज का उपयोगी सदस्य सिद्ध हो सके। इस दृष्टि से गीता की शिक्षा का सारांश एक प्रसिद्ध विद्वान् ने निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

"गीता का अनुभवी वेदान्ती सदैव स्मरण रखता है कि मेरे अन्दर और जगत की प्रत्येक वस्तु में परमात्मा का निवास है। वह अपने मनमें काम, क्रोध, और लोभ को आश्रय नहीं देता। वह जन्म, घटनाओं और परिस्थितियों के फलस्वरूप अपने ऊपर आने वाले या अपनी सामाजिक स्थिति से उत्पन्न होने वाले सब कर्तव्यों को पूर्ण सावधानी के साथ सदासद्‌विवेक बुद्धिपूर्वक, परन्तु अनासक्त होकर करता है। वस्तुत: किसी भी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तियों या समूहों के लिए नियत कर्मों में ऊँच-नीच का भाव नहीं है। सब काम समाज के पोषण और कल्याण के लिए समान रूप से आवश्यक हैं। वह सब नि:स्वार्थ सहकार-भावना से किये जाने चाहिये, जिससे सब काम उदात्त और समान बनते

हैं। ऐसा ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति अपना व्यक्तिगत जीवन भी सब प्रकार से नियन्त्रित और शुद्ध रखता है और अपने दैनिक कार्य, भोजन, विश्राम आमोद, प्रमोद और निद्रा को भी नियमित कर लेता है।"

रामायण में वेदान्त की शिक्षा—

गोस्वामी तुलसीदासजी का 'रामचरित-मानस' यद्यपि भक्तिप्रधान ग्रन्थ है और वे द्वैत सिद्धान्त के मानने वाले हैं, तो भी उन्होंने अपनी रचना के बीच-बीच में वेदान्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन ऐसे सुन्दर और सरल ढङ्ग से किया है कि सामान्य बुद्धि का मनुष्य भी उसे तुरन्त समझ जाता है। वेदान्त के गूढ़ सिद्धान्त जो बड़े-बड़े ग्रन्थों के पढ़ने से भी शीघ्र हृदयंगम नहीं रहते और जिनके विषय में प्रायः शङ्का और विवाद होते रहते हैं, उनको तुलसीदास जी ने दो-चार चौपाइयों में स्पष्ट-रूप से समझा दिया है। लक्ष्मण जी को परमात्म, जीवात्मा और माया (प्रकृति) का रहस्य समझाते हुए भगवान रामचन्द्र जी कहते हैं—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया।
गो-गोचर जेहि लागि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।

अर्थात्—"माया का मूल कारण अहङ्कार, मैं और मेरा—तू और तेरा ही है। इन्द्रियों और मन-से जो कुछ देखा या अनुमान किया जा सकता है, वह सब माया ही है। इस माया के दो भेद हैं—एक अविद्या और दूसरी विद्या। इसमें से विद्या परमात्मा की मूल प्रकृति है जो सत्, रज, तम तीनों गुणों से युक्त जगत की रचना करती है और अविद्या तमोगुण के विकार रूप है जिससे जीव अधोगति और पतित अवस्था को प्राप्त होता है।"

यद्यपि गोस्वामी जी सगुणोपासक थे और उन्होंने राम को साक्षात् परब्रह्म माना है फिर भी जगह जगह उन्होंने ब्रह्म के निराकार रूप का वर्णन किया है, जैसे—

बिनु पग चलहि सुनहि बिनु काना। कर बिन कर्म करहि विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु वाणी वक्ता बड़ योगी॥

वेदान्त में निराकार और साकार का प्रश्न बड़ा दुरूह है और इसका सन्तोषजनक निर्णय न होने से विद्वानों में इस विषय पर विवाद होता ही रहता है। पर 'रामायण' में इस प्रश्न का समाधान निष्पक्ष भाव से कर दिया गया है—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहि मुनि पुरान बुध वेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम उपल विलग नहिं जैसे॥

तुलसीदास जी भी वेदान्त की तरह संसार को एक भ्रम या स्वप्न ही बतलाते हैं जिसका कारण परमात्मा की प्रेरित माया है। उन्होंने वे ही उदाहरण दिये हैं जो वेदान्त-दर्शन में पाये जाते हैं—

झठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजङ्ग बिनु रजु पहिंचाने॥
जेहि जाने जग जाइ हिराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥
मोह निसा सब सोवनि हारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥
यहि जग जामिन जागहि जोगी। परमारथी प्रपञ्च वियोगी॥
जानिय जबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा॥

अर्थात्—"जब तक मनुष्य को ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता तब तक वह मिथ्या को ही सत्य समझता रहता है जैसे भ्रम में पड़ा मनुष्य रस्सी को सांप समझकर डर जाता है। पर जब ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है तो सब भ्रम इसी प्रकार मिट जाता है जैसे जाग जाने पर स्वप्न का भ्रम जाता रहता है। पर संसार के अधिकांश मनुष्य मोहरूपी निद्रा में

सोये पड़े रहते हैं और सांसारिक दृश्यों को सत्य ही समझा करते हैं। पर जो ज्ञानी व्यक्ति हैं वे इस मोह में न फंसकर सदैव सावधान रहते हैं और निस्वार्थ भाव से परोपकार में संलग्न रहते हैं। इस संसार में उसी मनुष्य को जागृत अवस्था में समझा जा सकता है, जोकि सांसारिक भोगों और विलासों में आसक्ति का त्याग करके भगवान की ओर मन को लगावे"

वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय और उनके मतभेद—

हम ऊपर कह चुके हैं कि वेदान्त सूत्र बहुत ही संक्षेप में लिखे गये हैं और उसमें प्रतिपाद्य विषय का बहुत सूक्ष्म संकेत पाया जाता है, जिससे कई प्रकार का अर्थ निकाला जा सकता है। इसके सिवाय जिस समय इन सूत्रों की रचना हुई थी, उस समय लिखने में विराम, अर्द्ध विराम, पूर्ण-विराम आदि चिह्न लगाने का नियम न था जिससे किसी भी वाक्य को इच्छानुसार तोड़ा और विभाजित किया जा सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक विद्वान् ने अपनी बुद्धि और अपने मत के अनुकूल सूत्रों का भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ करके उनके भाष्य लिखे। इस तरह के भाष्यों में शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य और वल्लभाचार्य के भाष्य अधिक प्रसिद्ध हैं क्योंकि ये प्रभावशाली सम्प्रदायों से सम्बन्धित हैं, जिनका प्रचार उनके अनुयायी गत शताब्दियों में करते रहे हैं। इन भाष्यकारों के मतों में काफी अन्तर है और उनमें पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता तथा अपने सिद्धान्त की श्रेष्ठता का आग्रह भी विशेष रूप से पाया जाता है। इन भाष्यों में अनेक स्थानों पर अन्य भाष्यकारों की तीव्र और कटु-आलोचना भी की गई है।

(१) वेदान्त दर्शन के भाष्यों में सबसे प्रसिद्ध और बहु-प्रचारित भाष्य शङ्कराचार्य का है। ये अद्वितीय विद्वान व मेधावी थे और इन्होंने ३२ वर्ष की छोटी-आयु में अपने सिद्धान्तों का डंका समस्त भारत-वर्ष में बजा दिया। ब्रह्म-सूत्र पर इनका 'शारीरिक भाष्य' जगत् प्रसिद्ध

है। इनके अद्वैत सिद्धान्त का सारांश यह है कि इस जगत में हमको नेत्रों से जो कुछ दिखाई दे रहा है वह सत्य नहीं है। इस समस्त विश्व-प्रपंच में यदि कोई वस्तु सत्य है तो वह ब्रह्म की चैतन्य सत्ता है जो अपनी माया या अविद्या नाम वाली शक्ति से इस दृश्य जगत् की उत्पत्ति और संहार करती है। वह माया न सत् है न असत् है वरम् उसे हम 'अनिर्वचनीय' ही कह सकते हैं। इस माया द्वारा जगत की उत्पत्ति में किसी प्रकार की वास्तविकता नहीं है, वरन् उसके द्वारा निर्मित यह जगत एक प्रकार का भ्रम या स्वप्न के सदृश्य है जो सत्य जान पड़ता है, पर जिसकी सत्ता रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाने से अधिक नहीं है। इस सिद्धान्त को 'विवर्तवाद' कहा जाता है। माया के सम्पर्क से ही ब्रह्म ईश्वर कहा जाता है और अविद्या में पड़कर वह जीवात्मा कहलाने लगता है। इस प्रकार इस जगत के मूल में ब्रह्म को छोड़कर और कोई तत्व सत्य नहीं है। इसी माया के वशीभूत होकर जीव अपने को अल्पज्ञ, अल्प-शक्ति वाला, सीमित, कर्म-बन्धनों में बँधा हुआ समझने लगता है। इसके फल से वह कर्मों का कर्ता और भोक्ता बन जाता है और आवागमन के चक्र में पड़कर पुण्य-पाप के फलों को भोगने लग जाता है। जब जीव अविद्या (माया) के रूप को समझ जाता है तो अपने को इन्द्रियों और मन से पृथक पूर्ण चैतन्य सत्ता अनुभव करने लगता है। तब उसके कर्म-बन्धन टूट जाते हैं, अल्पज्ञता और सीमित होने का भाव भी मिट जाता है और वह अपने शुद्ध आत्म रूप में स्थित हो जाता है। यही अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार मुक्ति की अवस्था है।

पर वर्तमान समय में जिन देशी और विदेशी विद्वानों ने विभिन्न भाष्यों की तुलना करके उनकी आलोचना की है, उनका मत है कि शंकराचार्य ने वेदान्त सूत्रों का जो अर्थ अपने भाष्य में प्रतिपादित किया है, वह अनेक अंशों में सूत्रों के वास्तविक आशय के प्रतिकूल है और उसे शंकराचार्य ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने की दृष्टि से शब्दों की खींचातान करके निकाला है। जर्मनी के एक विद्वान 'थीवो' ने वेदान्त-

दर्शन के अपने अनुवाद की भूमिका में लिखा है कि "बादरायण का सिद्धान्त शंकराचार्य के सिद्धान्त से बहुत भिन्न था। इसलिये शंकर भाष्य को पढ़ने से बादरायण के सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं हो सकता।" इसी प्रकार एक अन्य विद्वान ने कहा है कि "वेदान्त सूत्रों का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि उनका आशय शंकराचार्य के 'विवर्तवाद' के अनुकूल न होकर भास्कराचार्य के 'परिणामवाद' से अधिक मिलता है। तीसरे विद्वान के मतानुसार "सूत्रों को ध्यान से पढ़ने से पता लगता है कि शंकर की अपेक्षा रामानुज बादरायण के अधिक निकट हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि शंकराचार्य के समय में दक्षिण भारत में बौद्ध धर्म का जोर बहुत बढ़ रहा था, जिससे वैदिक धर्म का सूर्य प्रायः अस्त हो रहा था। उस परिस्थिति में शंकराचार्य ने ब्रह्म-सूत्र का जो भाष्य लिखा है, उसमें सूत्रों के मूल आशय की ओर इतना ध्यान नहीं दिया है जितना कि इस बात पर कि उनके द्वारा बौद्ध और जैन आदि वेद-विरोधी मतों का खण्डन करके उनको परास्त किया जाय।

(२) विशिष्टाद्वैतः—शंकराचार्य के केवलाद्वैत के मुकाबले में रामानुज ने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की है। इनके मतानुसार 'माया-मिथ्यत्ववाद' और अद्वैत सिद्धान्त दोनों गलत हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त जीव और जड़ जगत अर्थात् चित् और अचित् भी नित्य और स्वतंत्र तत्व हैं, यद्यपि वे ब्रह्म के ही अंश हैं और ब्रह्म उनके भीतर अन्तर्यामी रूप में रहता है। ये दोनों तत्व ही ब्रह्म की विशेषता हैं जो प्रलयकाल में तो ब्रह्म के भीतर सूक्ष्म रूप से रहते हैं और विश्वोत्पत्ति के अवसर पर स्थूल रूप में प्रकट हो जाते हैं। इसी से इसका नामकरण 'विशिष्टाद्वैत' किया गया है।

शंकर और रामानुज के सम्प्रदायों में एक भेद यह भी है कि जहाँ शंकर ब्रह्म को निर्गुण कहते हैं, रामानुज उसे सदैव सगुण रूप में ही बतलाते हैं। उनके मतानुसार ब्रह्म कभी 'निर्गुण' नहीं हो सकता। उपनिषदों

में ब्रह्म को निर्गुण कहा है क्योंकि अल्पज्ञ जीव के राग-द्वेष आदि गुण उस में नहीं पाये जाते। अन्यथा अनन्त ज्ञान, आनन्द रूप और सर्व शक्तिमान आदि गुणों से तो वह सदैव विभूषित रहता ही है। रामानुज ज्ञान और ध्यान के स्थान पर शरणागति भक्ति को ईश्वर प्राप्ति का मुख्य साधन मानते हैं जैसा कि इस सम्प्रदाय के एक स्तोत्र में कहा गया है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमान त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं
त्वपादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

अर्थात्—"मैं धर्मनिष्ठ नहीं हूँ, मुझमें आत्म-ज्ञान भी नहीं है, न भगवान के चरण कमलों में मेरी दृढ़ भक्ति ही है। मैं तो सब प्रकार से अकिञ्चन-दीन हूँ और आपके शरण देने वाले चरणों की शरण में आया हूँ।"

(३) **निम्बार्क का द्वैताद्वैत सिद्धान्त**—रामानुज के पश्चात् निम्बार्काचार्य ने अपने "द्वैत-अद्वैत" अथवा "भेदा-भेद" सिद्धान्त की स्थापना की। रामानुज से इनके अधिकांश दार्शनिक सिद्धान्त तो मिलते-जुलते हैं, पर ब्रह्म और जीव का परस्पर क्या सम्बन्ध है, इसमें मतभेद है। रामानुज जहाँ ब्रह्म और जीव में अभेद मानते हैं वहाँ निम्बार्क का कहना है कि जीव और ईश्वर में एक दृष्टि से अभेद के साथ अन्य दृष्टि से भेद भी है और वह भेद प्रत्येक अवस्था में-मुक्त अवस्था में भी बना रहता है। ईश्वर प्रत्येक अवस्था में जीव का नियामक है और उसे सदा उसकी प्रेरणानुसार चलना पड़ता है। इस मत का यह भी सिद्धान्त है कि जीव जो अच्छे या बुरे कर्म करता है, उसका आधार भी ईश्वर की प्रेरणा ही है। जीव का उद्धार तभी होता है जब उस पर ईश्वर का अनुग्रह हो। इस अनुग्रह को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय भगवान का शरणागत होना है, जिसका आधार गीता का 'मामेकं शरणं व्रज' वाला श्लोक है। पर

इन वैष्णव सम्प्रदायों में उसका अत्यधिक विस्तार कर दिया है जिससे गीता का ज्ञान-कर्म भक्ति के समन्वय वाला सर्वोपरि सिद्धान्त धूमिल पड़ जाता है।

(४) माध्वाचार्य का द्वैत सिद्धान्त—जहाँ अन्य आचार्यों और मनीषियों ने वेदान्त दर्शन को अद्वैत-सिद्धान्त का प्रतिपादक सिद्ध किया है, वहाँ माध्व-सम्प्रदाय वालों ने उससे द्वैत सिद्धान्त की पुष्टि की है। उनका कहना है कि जब भगवान सत्य हैं तो उनका उत्पन्न किया हुआ जगत कैसे मिथ्या हो सकता है ? इस सिद्धान्त का पूरा परिचय निम्न श्लोक से मिल जाता है—

श्री मन्मध्वमेत हरिः परतमः सत्यं जगत, तत्वतो।
भेदो, जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गतः॥
मुक्तिर्नैज सुखानुभतिरमला भक्तिश्च तत् साधनम्।
अक्षावित्रितयं प्रकाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

अर्थात्—"श्री माध्वाचार्य के मत से हरि (विष्णु) ही परम तत्व हैं और जगत सदैव सत्य है। जीव और परमात्मा का भेद वास्तविक है, परमात्मा स्वामी और जीव उसका दास है। यह जीव अपने कर्मों के अनुसार नीच और उच्च गति को प्राप्त हुआ करता है। अपने श्वासत सुख की अनुभूति करना ही मुक्ति है और उस तक पहुँचने का उपाय भक्ति है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन ही प्रमाण हैं और वेदों में एक-मात्र हरि (विष्णु) का ही विवेचन किया गया है।"

माध्वाचार्य के कथनानुसार जीव को कुछ बातों में ईश्वर से भिन्न तथा कुछ में उसके सदृश्य मानना असंगत है। इसी प्रकार 'माया वाद' का सिद्धान्त भी सर्वथा निराधार है। जगत में एक ठोस सत्य है जिसका अप-लाप कभी नहीं हो सकता।

(५) वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत सिद्धान्त—शुद्धाद्वैत सिद्धान्त शब्दार्थ की दृष्टि से अद्वैत सिद्धान्त का सबसे बड़ा प्रतिपादक है। शंकराचार्य

ने जहाँ ब्रह्म के साथ माया को स्वीकार किया है और उसी के कारण जगत का आविर्भाव स्वीकार किया है, वहाँ वल्लभाचार्य ने माया को सर्वथा अस्वीकार करके ब्रह्म को केवल एक शुद्ध तत्व माना है। इसी ब्रह्म से जीव और जगत् प्रादुर्भूत होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। भगवान् सच्चिदानन्द रूप हैं। जब उनकी इच्छा होती है तो वे अपने तीनों गुणों सहित ईश्वर के रूप में प्रकट होते हैं और अपने इन्हीं गुणों से जीव तथा जगत की रचना करते हैं। ईश्वर में सत, चित्, आनन्द तीनों तत्व उपस्थित रहते हैं, पर आनन्द की प्रधानता रहती है। ईश्वर अपने 'आनन्द' अंश को तिरोहित करके जीव की सृष्टि करते हैं, इसलिये जीव में चित् और सत् दो ही तत्व रहते हैं जिनमें से चित् (चैतन्यता) की प्रधानता रहती है। फिर ईश्वर ही चित् और आनन्द, दोनों अंशों को तिरोहित करके जड़ तत्व की रचना करते हैं जिससे उसमें केवल एक गुण (सत्ता) ही रहता है।

इस सिद्धान्त के विषय में एक शंका यह उठाई जाती है कि जब भगवान को किसी प्रकार की इच्छा नहीं है, वे स्वभाव से 'आप्तकाम' है तो वे फिर जीव और जगत की सृष्टि क्यों करते हैं? श्री बल्लभाचार्य इसका उत्तर यह देते हैं कि भगवान यह सब कुछ लीला के रूप में करते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति और संहार दोनों ही उनकी लीलाएं हैं जिनको वे स्वेच्छा से करते रहते हैं। पर उसकी लीला (क्रीड़ा) और एक बालक की क्रीड़ा में यह अन्तर है कि बालक को उसमें उद्यम और प्रयास करना पड़ता है, परन्तु भगवान को अपनी लीला में किसी प्रकार का उद्यम या प्रयास नहीं करना पड़ता और न उससे कोई बाहरी कार्य पैदा होता है। यह लीला तो भगवान की इच्छा मात्र से उनके भीतर ही होती रहती है। जब भगवान इस लीला को समेट लेते हैं तो फिर एकमात्र शुद्ध ब्रह्म रूप ही शेष रह जाता है।

इस प्रकार अपनी बुद्धि से विभिन्न साम्प्रदायिक आचार्यों ने वेदान्त-सिद्धान्त की अलग-अलग रूपों में व्याख्याएँ की हैं, पर माध्वाचार्य

को छोड़कर सबने उसका आशय अद्वैत ही बतलाया है, अर्थात् जीव किसी न किसी रूप में ब्रह्म का ही अंश है और अन्त में मोक्ष होने पर वह या तो उसमें सर्वथा लय हो जाता है या उसके सदृश्य होकर ब्रह्म-लोक में स्थित हो जाता है।

वेदान्त का व्यवहारिक स्वरूप—

यद्यपि वर्तमान समय में अधिकांश 'वेदान्ती' कहलाने वाले मुंह से 'जगत को मिथ्या तथा ब्रह्म को सत्य' कहते हुये संसार में साधारण गृहस्थों की अपेक्षा भी अधिक लिप्त रहते हैं, अपने स्वार्थ के लिये हर तरह के नीच कर्म करने में भी संकोच नहीं करते, पर ऐसे लोगों के कारण वेदान्त सिद्धान्त दूषित नहीं हो सकता। वेदान्त के तत्व हृदयंगम कर लेने वाला तो प्रत्येक प्राणी को आत्मवत् समझकर उसका उपकार करने को ही तैयार रहेगा। इस प्रकार के वेदान्त के स्वरूप को समझाते हुये युगदृष्टा स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—

"जो व्यक्ति अपने को प्रत्येक प्राणी में और प्रत्येक प्राणी को अपने में देखता है, वह कभी आत्मा से आत्मा की हत्या नहीं कर सकता। अद्वैतवाद का उपदेश यही है कि यदि तुम किसी को हानि करते हो तो वह तुम्हारी भी हानि है, क्योंकि तुम उससे भिन्न नहीं हो।"

इस जमाने में भी स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ जैसे महापुरुष वेदान्त के अनुरूप आचरण को प्रत्यक्ष दिखाकर उसके महत्व को पुनर्जीवित कर गये हैं। उनके मतानुसार वेदान्त हमको इस जगत तथा आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में ऐसा ज्ञान प्रदान करता है जिसके द्वारा हम अपने तथा समाज के प्रति वास्तविक कर्तव्य को जानकर उसे पूरा करने में समर्थ हो सकते हैं।

—श्रीराम शर्मा आचार्य

ॐ

वेदान्त-दर्शन

प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।। १ ।।

सूत्रार्थ—अथ=विभिन्न सांसारिक भोगोपभोगों के बाद, अतः=अब, ब्रह्मजिज्ञासा=ब्रह्म को जानने की इच्छा (करनी चाहिए)।

व्याख्या—मनुष्य शरीर में उत्पन्न होने के बाद सांसारिक भोगों की कामना रहती है। उन भोगों और कर्मों को करने के बाद, जब मोह-ममता छूटती है, तब यह समझ में आता है कि इन कर्मों का भोग रूप फल नाशवान् है। तब वह विचारवान् पुरुष ब्रह्म को जानने की इच्छा करता है।

इस सूत्र में जिस ब्रह्म की जिज्ञासा की गई है, उसका लक्षण निम्न सूत्र में कहा गया है :—

जन्माद्यस्य यतः ।। २ ।।

सूत्रार्थ—जन्मादि=उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, अस्य=इस विश्व के, यतः=जिसके द्वारा (हैं, वह ब्रह्म है)।

व्याख्या—सबके देखने, सुनने और अनुभव में आने वाले इस अद्भुत विश्व का रचयिता जो परमात्मा इसका धारण, पोषण करके अन्त में सबको अपने में ही लीन कर लेता है, वही ब्रह्म है।

उपनिषदों में ब्रह्म को अकर्त्ता, अभोक्ता, अव्यक्त, अचिन्त्य आदि कहा गया है, तो शङ्का होती है कि उसे इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण कैसे माना गया ? इस सम्बन्ध में कहा गया है:—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—शास्त्र=वेद (में), योनित्वात्=कारण कहा होने से।

व्याख्या—वेदादि शास्त्रों में उस ब्रह्म को जगत् का कारण कहा गया है क्योंकि समस्त वेद उसके स्वरूप को कहते हैं। वेदार्थ का विचार करने पर नाशवान् और नित्य वस्तु का विवेक होने लगता है, तब सांसारिक कर्मों और भोगोपभोगों में विराग और ब्रह्म में तत्परता होने लगती है। वेद में जिस ब्रह्म को सत्य, ज्ञान, अनन्त आदि कहा गया है, उसे जगत् का रचने वाला भी बताया गया है। इसलिए वेद ही ब्रह्म के लक्षण में प्रमाण स्वरूप है।

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—तत्=वह ब्रह्म, तु=तो, समन्वयात्=शास्त्रों के समन्वय से सिद्ध है।

व्याख्या—विभिन्न शास्त्रों का समन्वय (मिलान) करने पर बोध होता है कि वह ब्रह्म ही शास्त्रादि का भी कारण है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अणु में भी ब्रह्म अवस्थित है, क्योंकि वह इस विश्व में पूरी तरह रमा हुआ है। अतः वह इस विश्व का रचयिता तो है ही, रचने का साधन भी है।

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—ईक्षतेः=ईक्षण क्रिया द्वारा, अशब्दम्=शब्द प्रमाण रहित, न=नहीं है।

व्याख्या—ब्रह्म की सङ्कल्प क्रिया द्वारा यह सिद्ध होता है कि ईश्वर अशब्द नहीं है। 'ऐतरेय उपनिषद्' में कहा है कि "स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति" अर्थात् "उसने संकल्प किया कि मैं लोकों की रचना करूँ।" इस प्रकार के प्रमाणों से जाना जाता है कि वेद का कारणरूप ब्रह्म विचारवान् है, जड़ अथवा शब्दहीन नहीं है। इससे ब्रह्म का शब्दमय होना पूर्णतया सिद्ध है।

यहाँ एक शंका होती है कि गौण रूप से ईक्षण क्रिया (संकल्प करना) जड़ प्रकृति के साथ हो सकती है तो जगत् के रचने वाले ब्रह्म को जड़ ही क्यों न मान ले? इसका उत्तर है:—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि, गौणः=गौण वृत्ति से ईक्षण का प्रयोग (मान लें) तो, न=नहीं, क्योंकि आत्मशब्दात्=आत्म शब्द वहाँ प्रयुक्त है।

व्याख्या—जड़ प्रकृति के साथ ईक्षण (संकल्प) का प्रयोग मान लेना अनुचित है, क्योंकि श्रुति ने ईक्षण क्रिया के साथ ही आत्म शब्द का प्रयोग भी किया है। प्रकृति को 'आत्म' नहीं कहा जा सकता। छान्दोग्य में कहा है—'तत्तेजोऽसृजत' अर्थात् उस ब्रह्म ने तेज का सृजन किया। फिर कहा है कि उस देवता (ब्रह्म) ने इच्छा की कि मैं इन तीनों देवताओं (तेज, जल, अन्न) में इस जीवात्मा सहित प्रविष्ट होकर नाम रूपों को उत्पन्न करूँ। यदि जड़ प्रकृति के लिए यह कहा गया होता तो इसमें अपने संकल्प की अनुभूति नहीं होती।

अब शङ्का होती है कि जड़ प्रकृति भी आत्मा के सम्पूर्ण अधिकार वाली क्यों नहीं हो सकती, क्योंकि वह भी भोग आदि का साधन है ? तो कहा है :—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—तन्निष्ठस्य=उस ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले को, मोक्षोपदेशात्=मुक्ति का उपदेश है।

व्याख्या—जो व्यक्ति उस ब्रह्म में निष्ठावान् हो, वही मुक्ति का उपदेश पाने का अधिकारी है क्योंकि प्रकृति में निष्ठा रखने से मोक्ष कभी नहीं हो सकती। यदि ब्रह्म अचेतन होता तो उसके प्रति निष्ठा रखने वाले को मोक्षोपदेश कभी नहीं किया जाता। तैत्तरीयक श्रुति के अनुसार ब्रह्म में बुद्धि रखने वाले प्राणी की मुक्ति होती है।

प्रकृति के लिए 'आत्म' शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता, इस सम्बन्ध में फिर कहा है :—

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—हेयत्व=त्याज्य भाव से, च=भी, अवचनात्=नहीं कहा गया।

व्याख्या—यदि ब्रह्म गौण एवं अचेतन होता तो मोक्ष का उपदेश देने वाले वेदान्त-वाक्य उसे त्यागने योग्य बताते और मोक्ष चाहने वाले भक्तजन उस ब्रह्म की उपासना कदापि नहीं करते। सभी शास्त्र ब्रह्म से विरुद्ध विषयों का त्याग करने का ही उपदेश करते हैं, परन्तु ब्रह्म का त्याग करने के लिए कहीं भी निर्देश नहीं है। इसलिये ब्रह्म के लिए ही 'आत्म' शब्द का प्रयोग किया गया है, प्रकृति के लिए नहीं।

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—स्व=स्वयं में, अप्ययात्=लीन होने से।

व्याख्या—ब्रह्म स्वयं में ही लीन हो जाता है अथवा ब्रह्म से उत्पन्न विश्व ब्रह्म में ही लय हो जाता है। यदि ब्रह्म सगुण होता तो वह

अपने में लीन होने वाला नहीं कहा जाता। छान्दोग्य के अनुसार सत् से सम्पन्न अर्थात् सुषुप्त जीव अपने कारणरूप ब्रह्म में लय हो जाता है। अतः सत् सम्पन्न जीव का लय प्रकृति में नहीं हो सकता। वह तो निर्गुण और परिपूर्ण ब्रह्म में ही सम्भव है।

'सत्' नाम से बताया गया विश्व का कारण रूप ब्रह्म जड़ नहीं हो सकता, इस सम्बन्ध में फिर कहा है:—

गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—गति = चाल, प्रचलन, सामान्यात्=समानता से।

व्याख्या—सभी वेद-वाक्य समूह समान रूप से निर्गुण ब्रह्म को ही जगत् का कारण कहते हैं। गति का अर्थ मुक्ति भी है। विज्ञानघन, सर्वशक्तिमान, सत्-चिह्न रूप जगत्कारण परमात्मा ही उपासित होकर मोक्ष प्रदान करता है। सभी वेदादि शास्त्र समान रूप से उसे एक रूप बताते हैं। उपनिषद् उसी ब्रह्म से प्राण की उत्पत्ति कहते हैं। उसी से मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी का सृजन होता है। यह सभी कार्य जड़ प्रकृति द्वारा किये जाने सम्भव नहीं हैं।

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—श्रुतत्वात्=श्रुतियों द्वारा, च=भी (इसी का प्रतिपादन हुआ है)।

व्याख्या—श्रुतियों ने भी ब्रह्म को ही इस जगत् का कर्त्ता कहा है। वे सभी, ब्रह्म को सबका परम कारण और समस्त कारणों का अधीश्वर बताती हैं। ब्रह्म अजन्मा है, इसलिए उसका कोई पिता नहीं है। परन्तु प्रकृति का विधायक वही ब्रह्म है। श्रुतियों ने ब्रह्म को निर्गुण कहा है, इसलिये वह कहने योग्य भी है। न कहने योग्य वस्तु श्रुतियों का विषय कदापि नहीं हो सकती। इसलिए इस अद्भुत विश्व का रचयिता ब्रह्म ही है, प्रकृति नहीं है।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ।। १२ ।।

सूत्रार्थ—आनन्दमय=आनन्दयुक्त ईश्वर, अभ्यासात्=अभ्यास के द्वारा साध्य।

व्याख्या—आनन्दमय ब्रह्म के बारम्बार कीर्तन से यह सहज सिद्ध है कि प्रकृति जगत् की कारणरूप नहीं है। श्रुतियों ने ब्रह्म के निमित्त 'आनन्द' शब्द का बारम्बार प्रयोग किया है। ज्ञानी-जन भी उसी परब्रह्म परमेश्वर का ध्यानयुक्त अभ्यास करते रहते हैं जिससे उन्हें मोक्ष एवं ब्रह्म-पद की प्राप्ति होती है। श्रुतियों में स्थान-स्थान पर ब्रह्म के निमित्त 'आनन्द' एवं 'आनन्दमय' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अतः ब्रह्म ही आनन्दमय है, प्रकृति कदापि नहीं है।

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्रचुर्यात् ।। १३ ।।

सूत्रार्थ—चेत्=यदि, विकारशब्दात्=आनन्दमय शब्द में विकारार्थक मयट् प्रत्यय का बोध होने से, इति=इस प्रकार कहो कि, न=ब्रह्म विकार रहित नहीं है, है, न=(तो यह उचित) नहीं है (क्योंकि), प्राचुर्यात्=मयट् प्रत्यय का बोध यहाँ प्रचुर अर्थ में होता है।

व्याख्या—मयट् प्रत्यय का बोध यहाँ निकारार्थक नहीं है वह प्रचुरता अर्थ का ही बोध कराता है। इसलिये यह कहना अनुचित है कि 'आनन्दमय' शब्द से ब्रह्म का बोध नहीं होता।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ।। १४ ।।

सूत्रार्थ—तद्धेतु=उस आनन्द, का हेतु, व्यपदेशात्=कहा जाने से, च=भी (यहाँ ब्रह्म का ही प्रतिपादन होता है)।

व्याख्या—ब्रह्म को आनन्द का हेतु बताया गया है यथा 'एषह्येवानन्दयाति' (तैत्त० २-७)। इससे आनन्दमय शब्द विकारवान् का बोध नहीं कराता। जो आनन्द का कारण होगा, उसी से आनन्द की

प्राप्ति हो सकती है। इसलिए 'आनन्द' के साथ 'मय' यही विकार का बोधक नहीं है, उससे प्रचुरता का बोध होता है। इस सम्बन्ध में अन्योक्ति भी है :—

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—मान्त्रवर्णिकम्=मन्त्राक्षरों में जिस ब्रह्म का वर्णन है, च=तथा, एव =(उसका) ही, गीयते=यशोगान हुआ है।

व्याख्या—वेद मन्त्रों में उसी निर्विकार ब्रह्म का वर्णन है। उसी के आधार पर उपनिषद् आदि ग्रन्थों में उस ब्रह्म की महिमा का गान किया गया है। वही परब्रह्म एवं आनन्दमय ईश्वर सब का अन्तरात्मा है। इसलिए आनन्दमय शब्द जीव का वाचक कदापि नहीं हो सकता।

अब यह शंका होती है कि 'आनन्दमय' शब्द को जीव वाचक मान लेने में ही क्या आपत्ति है? इसका उत्तर यह है :—

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—इतर=ब्रह्म से अन्य, न=नहीं, अनुपपत्तेः=सिद्ध होता।

व्याख्या—उपरोक्त प्रमाणों द्वारा 'आनन्दमय' ब्रह्म से अन्य कोई भी सिद्ध नहीं होता। यदि जीवात्मा आनन्दमय होता तो वह विभिन्न योनियों में भटकता और दुःख पाता क्यों भ्रमण करता? इसलिए जीवात्मा को आनन्दमय कहना मिथ्या है।

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ-भेदव्यपदेशात्=भेद का उपदेश करने से, च=भी।

व्याख्या—परमात्मा और जीवात्मा में भेद बताया गया है, इसलिए भी जीवात्मा को 'आनन्दमय' नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म को रस-स्वरूप कहा गया है। रस-स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है। अतः जिससे आनन्द की प्राप्ति होती है, वही

आनन्दमय है। जीवात्मा तो उस आनन्दमय से आनन्द प्राप्त करता है। इसलिए भी जीवात्मा को आनन्दमय नहीं कह सकते।

कामाच्च नानुमानापेक्षा ।। १८ ।।

सूत्रार्थ—कामात्=कामना से, च=तथा, अनुमानापेक्षा=अनुमान से, न=नहीं है।

व्याख्या—आनन्दमय में कामना-भाव प्रदर्शित हुआ है। जैसे—'सोऽकामयत' उसने इच्छा की कि सृष्टि की रचना करूँ। इससे भी आनन्दमय ब्रह्म की जगत रचना रूप चेतना की ही सिद्धि होती है। यह कार्य जड़ प्रकृति के लिए कदापि सम्भव नहीं है। इसलिए अचेतन में ही आनन्द का आरोप करने की कल्पना भी अपेक्षित नहीं है।

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ।। १९ ।।

सूत्रार्थ—अस्मिन्=इसमें, अस्य=इस जीव का, च=भी, तद्योगं=उस आनन्दमय से मिलना, शास्ति=शास्त्र द्वारा कथित है।

व्याख्या—परमात्मा के आनन्दमय तत्व का ज्ञाता उसी ब्रह्म में मिल जाता है—ऐसा शास्त्र कहते हैं। इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि जीवात्मा को आनन्दमय नहीं कहा जा सकता। केवल परब्रह्म ही 'आनन्दमय' शब्द से विभूषित कहा जा सकता है।

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।। २० ।।

सूत्रार्थ—अन्तः=अन्तर्वर्ती, तत्=उस ब्रह्म के, धर्मोपदेशात्=धर्मों के उपदेश करने से।

व्याख्या—वह ब्रह्म जगत् के भीतर विद्यमान है। यजुर्वेद में प्रजापति का धर्म इस जगत् का अन्तवर्ती कहा गया है। अर्थात् वह ब्रह्म जगत् का कर्त्ता तो है ही, जगत् के अणु-अणु में रमा हुआ है। यह धर्म जड़ प्रकृति का कभी नहीं हो सकता।

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—च=और, भेदव्यपदेशात्=भेद रूप से कथित होने के कारण, अन्यः=अभिन्न नहीं है।

व्याख्या—शास्त्र में जीव से ब्रह्म का भेद कथन किया जाने से भी जीव और ब्रह्म पृथक्-पृथक् हैं। सर्वव्यापी परमेश्वर प्राणियों में निवास करते हुए भी, उनसे भिन्न है। उपनिषद्-वाक्य है कि 'जो चक्षु में रहकर भी चक्षु से पृथक् है, जिसे चक्षु नहीं जानता, पर चक्षु उसी का देह है, जो चक्षु के अन्तर नियमन करता है वही तेरा अन्तरात्मा और अमृत है।' इस प्रकार आत्मा का चक्षु से भिन्नत्व बोध होने से सिद्ध होता है कि वह 'आनन्दमय' ब्रह्म ही उपासनीय है।

आकाशस्तल्लिंगात् ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—आकाश=आकाश शब्द वाच्य ब्रह्म, तत्=उस ब्रह्म के, लिङ्गात्=सम्पूर्ण जगत् का कारण रूप ब्रह्म।

व्याख्या—ब्रह्म को ही आकाश कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि 'यह सम्पूर्ण भूत आकाश से उत्पन्न होते और आकाश में ही विलीन होते हैं। आकाश सबसे बड़ा और सब का परायण है अर्थात् सभी आकाश के आश्रय में हैं।' आकाश को जगत् का कारण रूप कहने से भी यह स्पष्ट है कि आकाश ब्रह्म का ही वाचक है क्योंकि ब्रह्म के लक्षणों का आकाश में आरोप किया गया है। अन्यथा भूताकाश के यह लक्षण नहीं हो सकते।

अत एव प्राणः ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—अतः=इसलिए, एव=ही, प्राणः=प्राण (ब्रह्म है)।

व्याख्या—उपरोक्त हेतुओं से प्राण का भी ब्रह्म होना सिद्ध होता है। छान्दोग्य के अनुसार 'सम्पूर्ण भूत प्राण में ही लीन होते और प्राण से

ही उत्पन्न होते हैं।' यह लक्षण ब्रह्म के ही हो सकते हैं, प्राणवायु के नहीं क्योंकि प्राणवायु सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारण नहीं हो सकता। यह धर्म तो परब्रह्म परमेश्वर के ही हैं। इसलिए 'प्राण' शब्द से यहाँ ब्रह्म का ही वर्णन हुआ है।

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ।। २४ ।।

सूत्रार्थ—ज्योतिः=ज्योति स्वरूप ब्रह्म, चरणाभिधानात्=पाद कल्पना द्वारा।

व्याख्या—शास्त्रों ने ब्रह्म का ज्योति स्वरूप भी बतलाया है। छान्दोग्य के अनुसार 'इस दिव से परे, सभी प्राणियों से ऊपर और विश्व से भी ऊपर जो ज्योति प्रदीप्त है, वही इस पुरुष में है।' इस प्रकार यह 'ज्योति' शब्द जड़ का वाचक नहीं है क्योंकि ज्योतिर्मय ब्रह्म के चार पाद कहे गये हैं। सर्व भूत उस ब्रह्म के एक पादस्थ हैं। तथा तीन पाद अमृत स्वरूप हैं और परमधाम में स्थित बताये गए हैं। इससे 'ज्योति' शब्द से अग्नि का ग्रहण नहीं होता। क्योंकि ब्रह्म से भिन्न ज्योति जगत् का कर्त्ता नहीं। उसी ब्रह्म द्वारा उत्पन्न जगत् के अन्तर्गत उत्पन्न पदार्थ है। अतः यहाँ 'ज्योति' शब्द को ब्रह्म का वाचक ही मानना उचित है।

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पण निगदात् तथा हि दर्शनम् ।। २५ ।।

सूत्रार्थ—चेत्=यदि, छन्दोभिधानात्=छंद (गायत्री) का कथन होने से, न=नहीं, (ऐसा), न=नहीं है, तथा=और, चेतोऽर्पण निगदात्=मन के समर्पणपूर्वक कथन से, तथाहि=ऐसा ही, दर्शनम्=देखा जाता है।

व्याख्या—यदि ऐसा कहो कि चरण कल्पना तो गायत्री नामक छन्द की है, परमात्मा की नहीं, तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि गायत्री छन्द के द्वारा ब्रह्म में चित्त वृत्तियों का समर्पण करने का कथन है और

ऐसा ही विभिन्न शास्त्रों में देखा जाता है। अतः गायत्री छन्द द्वारा जड़ चेतनात्मक सम्पूर्ण विश्व के कारण रूप ब्रह्म में चित्त वृत्तियों का समर्पण होने से गायत्री भी ब्रह्मरूपा ही है क्योंकि वेदों में प्रणव आदि नामों को ब्रह्म का वाचक कहा गया है, इस प्रकार गायत्री भी ब्रह्म है।

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—भूतादिपादव्यपदेश=भूतादि को पाद कहना, उपपत्तेः—युक्ति सङ्गत है, च=और, एवम्=ऐसा ही है।

व्याख्या—सब कुछ गायत्री ही है, ऐसा मानते हुए भूत, पृथ्वी, शरीर और हृदय रूप गायत्री के चार पाद कहे गए हैं और ब्रह्म से उसकी तुलना करते हुए सब भूतों को उसका एक पाद कहा गया है। इसकी सङ्गति तभी बैठती है जब गायत्री रूप से, उसे ब्रह्म ही मानें और यह ठीक भी है, क्योंकि गायत्री को केवल छन्द मानने से भूतादि को उसके चरण नहीं मान सकते। यह लक्षण तो केवल ब्रह्म के ही हैं और इस प्रकार गायत्री और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है।

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—उपदेशभेदात्=उपदेश भेद से, चेत=यदि, इति=ऐसा कहो कि, न=गायत्री ब्रह्म का वाचक नहीं तो, न=यह ठीक नहीं है, क्योंकि, उभयस्मिनः=इसमें दो प्रकार की बात होने पर, अपि=भी, अविरोधात=पारस्परिक विरोध नहीं है।

व्याख्या—'त्रिपादस्याऽमृतं दिवि' के अनुसार तीन चरणयुक्त ब्रह्म अमृत रूप और दिव्य लोक में कहा है तथा 'अथ यदतः परोदिवः' के अनुसार ब्रह्म को दिव्य-लोक से परे बताया है। इन परस्पर विरोधी लगने वाली बातों से यदि शंका हो तो इस प्रकार समझना चाहिये कि ब्रह्म दिव्य-लोक पर्यन्त सम्पूर्ण विश्व के भीतर है और बाहर भी है। यही बात ईशोपनिषद् (१।५) में भी कही गयी है। इसी प्रकार

गायत्री भी ब्रह्म की उपासना में प्रयुक्त होने पर ब्रह्मोत्तर प्रतीत होती है, परन्तु उसका निवास भी सर्वोपरि परमधाम में कहा जाने से निश्चय ही वह ब्रह्म है। इस प्रकार गायत्री ब्रह्म का ही वाचक है।

प्राणस्तथानुगमात् ॥२८॥

सूत्रार्थ--प्राणः=प्राण ईश्वर वाचक है, तथा=इस प्रकार, अनुगमात्=विचार करने से (ऐसा ही प्रतीत होता है)।

व्याख्या—पूर्वापर प्रसङ्ग पर विचार करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि 'प्राण' शब्द ब्रह्म के निमित्त प्रयुक्त हुआ है। 'स एषः प्राण एव प्राज्ञात्माऽऽनन्दीऽजरोऽमृतः' में आनन्दमय, अजर, अमर आदि जो विशेषण हैं, वे सब ब्रह्म के प्रति ही हो सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ - चेत्=यदि कहो कि, वक्तुरात्मोपदेशात्=वक्ता द्वारा आत्म-उपदेश होने के कारण, न=प्राण ब्रह्म का वाचक नहीं है तो, इति=यह कहना, न=उचित नहीं, क्योंकि, अध्यात्मसम्बन्ध भूमा=आध्यात्मिक उपदेश की बहुलता, हि=ही, अस्मिन्=इस प्रकरण में वर्णित है।

व्याख्या—यदि यह कहा जाय कि इन्द्र ने यहाँ स्वयं को ही 'प्राण' शब्द से निर्दिष्ट किया है, इससे प्राण शब्द का बोध ब्रह्म के निमित्त नहीं, जीव के निमित्त होता है तो ऐसा समझना ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकरण में आध्यात्मिक विषय की ही अधिकता है, आधिदैविक विषय की नहीं, इसलिये 'प्राण' शब्द से जीव का नहीं, उपास्य रूप से इन्द्र-लक्षण सम्पन्न ब्रह्म का ही बोध होता है।

शास्त्रदृष्टचा तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—शास्त्रदृष्ट्या=शास्त्र की दृष्टि से, तु=तो, वामदेववत्=वामदेव के समान, उपदेशः=कहा गया है।

व्याख्या—जिसकी आयत जो वृत्ति है, शास्त्रों में उसका उसी रूप में वर्णन किया गया हैं। प्राणी की ब्रह्मायत वृत्ति के कारण यहाँ इन्द्र अपने को उपास्य कहते हैं। इस प्रकार इन्द्र का ब्रह्म रूप सिद्ध हुआ। वृहदारण्यक श्रुति में ऋषि वामदेव भी कहते हैं—'अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चेत्यत्राहमिति' अर्थात् मैं मनु हुआ था, और मैं ही सूर्य हुआ था। इस प्रकार के कथन में, 'मैं' शब्द से मेरी आयत्त वृत्ति का कारण रूप ब्रह्म ही समझना चाहिए। इसमें इन्द्र स्वयं ही अपने में ब्रह्म का स्पष्ट आरोप कर लेते हैं। अतः वामदेव को भी ब्रह्म का वाचक मानना ही ठीक है।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्या-दाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्=जीव और मुख्य प्राण के लक्षण से, न=प्राण शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं, इति न=ऐसा नहीं है क्योंकि, उपासात्रैविध्यात्=त्रिविध उपासना होने के कारण, आश्रितत्वात्=सभी लक्षण ब्रह्माश्रित हैं, इह=इस प्रसङ्ग में, तद्योगात्=उसके लक्षण भी कहे गए हैं।

व्याख्या—इन्द्र शब्द से जीव और प्राणवायु के ग्रहण की यदि शंका की जाय कि 'न वाचंविजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' अर्थात् 'वाणी को जानने की अपेक्षा वक्ता को जानना चाहिए' कथन से जीव का लक्षण स्पष्ट हुआ और 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' अर्थात् 'प्राण ही प्रज्ञा है, वही इस शरीर को पकड़ कर उठाता है', इससे प्राणवायु का लक्षण प्रकट हुआ, इसलिए प्राण शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं है, तो यह शङ्का निर्मूल है क्योंकि तीन प्रकार की उपासना कही गई है, (१) ब्रह्म को जीवन का आधार मानें। (२) ब्रह्म को शरीर का उठाने वाला समझें और ब्रह्म को ही परमैश्वर्य युक्त जानें। यहाँ वाणी भी ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त हुई है। 'वाचोह वाच स उ प्राणस्य प्राणः'

के अनुसार वह ब्रह्म वाणी की वाणी और प्राण का भी प्राण है। इस प्रकार 'प्राण' शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण होता है, वायु का नहीं। जीव और प्राण आदि सभी ब्रह्म के आश्रित ही हैं, उनसे भिन्न कुछ नहीं है।

॥ प्रथमः पादः सम्पूर्ण ॥

द्वितीयः पादः

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—सर्वत्र=सभी; वेद-वाक्य-समूह में, प्रसिद्धोपदेशात्=प्रसिद्ध ब्रह्म का उपदेश है।

व्याख्या—सभी शास्त्रों में ब्रह्म की उपासना करने का उपदेश हैं। वह ब्रह्म सर्वत्र प्रसिद्ध है। श्रुतियाँ कहती हैं कि यह अखिल विश्व भी ब्रह्म ही है, क्योंकि यह ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है, उसी के द्वारा स्थित रहकर अन्त में, उसी में विलीन हो जाता है। इससे प्रसिद्ध ब्रह्म का ही उपदेश होता है।

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—च=और, विविक्षितगुण=सत्य सङ्कल्प आदि गुण की, उपपत्ते=ब्रह्म में ही सङ्गति होती है।

व्याख्या—विवेकपूर्ण बुद्धि के द्वारा मन ब्रह्म को ग्रहण करने का यत्न करता है। जिस ब्रह्म का अंश जीवात्मा है, जो स्वयं तेज रूप और सत्य सङ्कल्प है तथा आकाश के समान सूक्ष्म एवं निर्मल है। यह धर्म ब्रह्म में ही कहे गए हैं, इसलिए सिवा ब्रह्म के अन्य में सङ्गत नहीं हो सकते।

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—तु=तो, अनुपपत्तेः=जीव में मनोमयादि गुणों की संगति न होने से, शारीरः=जीव, न=उपास्य नहीं है।

व्याख्या—जीवात्मा में मनोमयादि गुण नहीं घटते। उपासना के लिए सत्य संकल्प, सर्वव्यापकत्व, सर्वात्मकत्व आदि गुणों का कथन किया गया है, वे गुण ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य में नहीं हो सकते। इसलिए जीवात्मा उपास्य नहीं है। अतः इस प्रसंग में ब्रह्म को ही उपासना के योग्य मानना उचित है।

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—कर्मकर्तृव्य=कर्म और कर्त्ता के, उपदेशात्=उपदेश से, च=भी (जीवात्मा की उपास्यता सिद्ध नहीं होती)।

व्याख्या—छान्दोग्य के अनुसार 'विशिष्ट गुण युक्त ब्रह्म रूप यह आत्मा मेरे हृदय में निवास करता है। मरणोपरान्त परलोक में यही मुझे प्राप्त होगा'-इस प्रकार आत्मा रूप ब्रह्म प्राप्तव्य और जीव उसे प्राप्त करने वाला कहा गया है। अतः उपास्य ब्रह्म है, जीवात्मा नहीं हो सकता, यही मानना चाहिये।

शब्दविशेषाच्च ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—शब्द विशेषात्=शब्द का भेद होने से, च=भी।

व्याख्या—उपासक और उपास्य के हेतु शब्द का भेद होने से भी जीवात्मा का उपास्यत्व सिद्ध नहीं होता। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि 'आत्मा के भीतर परमात्मा है।' इससे सिद्ध हुआ कि जीव रूप आत्मा और ब्रह्म रूप परमात्मा में शब्द-भेद होने से भी जीव ब्रह्म नहीं है। परन्तु वह ब्रह्म में संगत करने पर ब्रह्म रूप हो जाता है। इस प्रकार भी जीव और ब्रह्म में भेद सिद्ध होता है।

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—स्मृतेः=स्मृतियों के प्रमाण से, च=भी (जीव और ब्रह्म का भेद सिद्ध होता है)।

व्याख्या—स्मृतियों में श्रीमद्भगवद्गीता, मनुस्मृति प्रभृति ग्रन्थ माने जाते हैं। उनमें भी जीव और ब्रह्म की अभिन्नता नहीं मानी गई। भगवद्गीता में ईश्वर को सब प्राणियों के हृदय में स्थित कहा गया है। इससे भी जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट है। इस प्रकार उपास्य देव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न कोई नहीं।

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—अर्भकौकस्त्वात्=सूक्ष्म हृदय में निवास करने के कारण, च=और, तद्व्यपदेशात्=उसके कहने से, चेत्=यदि यह कहो कि, न=हृदय प्रदेश में ब्रह्म का निवास नहीं हो सकता, इति=ऐसा, न=कथन ठीक नहीं है, निचाय्यत्वात्=क्योंकि वह हृदय में निवास करने से उपासनीय, च=और, व्योमवत्=आकाश के समान विशाल है।

व्याख्या—यदि कोई कहे कि हृदय जैसे छोटे से स्थान में निवास करने वाला ब्रह्म भी अत्यन्त छोटा होगा, इसलिये वह सर्वव्यापक नहीं हो सकता। ऐसा समझना ठीक नहीं है क्योंकि हृदय के परिमाणानुसार सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापक ब्रह्म का अणुत्वादि कहना औपचारिक मात्र है। यदि हृदय की आकाश से तुलना करें तो उसमें सूक्ष्म होते हुए भी विशालता का आरोप किया जाता है। इसी प्रकार आकाश भी सूक्ष्म और व्यापक हैं। इसलिए ब्रह्म को आकाश के समान ही सूक्ष्म और व्यापक मानना चाहिए। वेद वाक्यों के अनुसार सूक्ष्म होते हुए भी वह ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व के भीतर और बाहर सर्वत्र स्थित है। वह एक देशीय नहीं है।

सम्भोगप्राप्तिरिति चन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि, इति=ऐसा कहो कि, सम्भोग प्राप्तिः=जीवों के हृदय में स्थित होने से भोगादि भी प्राप्त होंगे, न=तो नहीं, वैशेष्यात्=(क्योंकि) उस ब्रह्म में विशेष भाव हैं।

व्याख्या—देहधारी जीव के हृदय में निवास करने वाले ब्रह्म को उसी की भाँति सुख-दुःख भोगने होंगे, ऐसा कथन निर्मूल है। क्योंकि जीव से ब्रह्म में विशेषता कही गई है। मुण्डकोपनिषद् (३-१) में 'अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति' के अनुसार 'ब्रह्म बिना भोगों के ही प्रकाशित होता है।' इस कथन से ब्रह्म में कर्त्ता और भोक्ता का आरोप नहीं होता। वह जीवात्मा के हृदय में निवास करता हुआ भी उसके गुण-दोषों से पृथक् रहता है। जीवों की अपेक्षा ब्रह्म में यह विशेषता है।

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—चराचर ग्रहणात=चराचर को ग्रहण करने के कारण, अत्ता=भक्षण करने वाला, सबको लीन करने वाला।

व्याख्या—यहाँ ब्रह्म में भोक्तापन का आरोप होने से शंका होती है कि वह जीव के समान कर्म-फल रूप सुख-दुःख का भोक्ता तो नहीं है। परन्तु ब्रह्म को यज्ञ और तप का भोगने वाला कहा गया है। कठोपनिषद् (१-२-२५) के अनुसार भी 'ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि प्राणी जिस ब्रह्म के लिए भोजन बनते हैं और जो सभी का संहारक बनता है, वह ब्रह्म जहाँ और जैसा है इसे कौन जानता है?' इससे सिद्ध हुआ कि सृष्टि के संहार काल में चराचर विश्व को अपने में लय करने के कारण ही वह ब्रह्म भोक्ता है, ऐसा कहा गया है।

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—प्रकरणात्=प्रकरण से, च=भी।

व्याख्या—यह प्रकरण ब्रह्म सम्बन्धी है, इसलिए इसमें ब्रह्म का

ही वर्णन हुआ है, जीवात्मा अथवा अन्य किसी का नहीं हुआ। उपरोक्त सूत्रों में भी ब्रह्म के प्रति की जाने वाली शंकाओं का सामाधान किया गया है। अतः पूर्वापर प्रसंग के अनुसार भी यह सिद्ध होता है कि यहाँ ब्रह्म के प्रति ही 'अत्ता' शब्द प्रयुक्त हुआ है, अन्य किसी के प्रति नहीं।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—गुहां = हृदय रूप गुहा में, प्रविष्टौ = प्रविष्ट हुए, आत्मानौ = जीव और ब्रह्म दोनों, हि = ही, तद्दर्शनात् = इस प्रकार देखे जाते हैं।

व्याख्या—हृदय रूपी गुहा में जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही बैठे हैं। कठोपनिषद (१—३—१) के अनुसार "सुकृतों द्वारा प्राप्त देह के भीतर हृदय गुहा में दोनों निवास करते हैं। वे दोनों छाया और धूप के समान परस्पर विरूद्ध धर्मी हैं, ऐसा ब्रह्मज्ञानी पुरुष कहते हैं और तीन बार अग्नि का चयन करने वाले तथा पंचाग्नि सम्पन्न कर्मिगण भी ऐसा ही कहते हैं।" इस स्थल पर कर्मफल के भोक्ता जीव के साथ जिस द्वितीय व्यक्ति का उल्लेख है, वही ब्रह्म है। छाया और धूप के समान इनके स्वभाव में विरुद्धता है। छाया मे जो प्रकाश रहता है, वह धूप के कारण ही रहता है, इसलिए यहाँ जीव को छाया रूप से और ब्रह्म को धूप रूप से मानना चाहिए। क्योंकि जीवात्मा सांसारिक भोगों में फसा होने के कारण 'छाया' रूप है और ब्रह्म संसार से मुक्त होने से 'तेज' रूप है। सर्वव्यापक ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए योग्य स्थान हृदय ही है, इसलिए हृदय में ब्रह्म का निवास मानना अयुक्त नहीं है। ब्रह्म की उपासना सुकृत है, उसके द्वारा ही ब्रह्म से साक्षात्कार संभव है। छाया और धूप के गुणों में नितान्त भिन्नता है, इसलिए जीव और ब्रह्म में उन गुणों की भिन्नता का आरोप करना भी युक्तिसंगत है। जीव अल्पज्ञ और विषयों में लिप्त है तथा ब्रह्म सर्वज्ञ एवं विषयों से परे है, इस विलक्षणता के कारण उसकी भिन्नता स्पष्ट है। इन सब बातों से यह

सिद्ध है कि इस सूत्र में दोनों से तात्पर्य जीव और ब्रह्म से ही है।

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—विशेषणात् = विशेषण से, च=भी (जीव और ब्रह्म) का मानना ठीक है।

व्याख्या—उपरोक्त दोनों भोक्ता जीव और ब्रह्म ही हैं, यह बात दोनों के प्रति पृथक्-पृथक् विशेषणों से भी सिद्ध होती है। उपरोक्त मंत्र में ही जीव और ब्रह्म को प्रज्ञत्व और विज्ञत्व बाधक छाया और धूप कहा गया है। जीव मननकर्त्ता और ब्रह्म मनन विषय है। जीव साधक और ब्रह्म साध्य है। कठोपनिषद् (१-१-१७) में 'ब्रह्मजज्ञं सवमीक्ष्वं विदित्वा' के अनुसार 'ब्रह्म से उत्पन्न जीव स्वयं अपने को ब्रह्मांश रूप से जानकर शान्त रहता है।' यहाँ ब्रह्मज=ब्रह्म से उत्पन्न और ज्ञ= जीव के विशेषण-भेद से स्पष्ट है कि वेद्यब्रह्म के प्रसंग में अत्ता ब्रह्म ही है, अन्य कोई नहीं।

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—अन्तर=अन्तर्यामी, उपपत्ते = युक्ति से।

व्याख्या—युक्ति द्वारा यह सिद्ध है कि स्थूल के भीतर सूक्ष्म पदार्थ रह सकता है। सभी चराचर जीवों में निवास करने के कारण ही ब्रह्म को अन्तर्यामी कहा गया है। छान्दोग्य के अनुसार—'इस नेत्र के मध्य जो पुरुष देखा जाता है, वह आत्मा है, अमृत है, अभयपद है और वही ब्रह्म है।' इस प्रकार हृदय में विराजमान और योगियों के नेत्रों में दिखाई पड़ने वाला निर्लेप पुरुष ब्रह्म के सिवा अन्य कोई भी नहीं हो सकता।

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—स्थानादि=स्थिति और नियमन का, व्यपदेशात्= कथन होने से, च=भी।

व्याख्या—ब्रह्म के स्थान और नाम रूपों का शास्त्रों ने विभिन्न प्रकरणों में उल्लेख किया है। जैसे बृहदारण्यक में 'आत्मा को परमात्मा का स्थान' कहा गया है। इसी में ब्रह्म को पृथिवी आदि अनेक स्थानों में स्थित कहा गया है। इसी प्रकार योगियों द्वारा चक्षु में भी ब्रह्म उपासनीय भाव से दिखाई देता है। अतः ब्रह्म को नेत्र-स्थानीय कहना अयुक्त नहीं है।

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—च=तथा, सुखविशिष्टाभिधानात्=आनन्दयुक्त कहा गया है, इसलिए, एव=भी।

व्याख्या—योगीजन नेत्र स्थित ब्रह्म की उपासना करते हैं, यह कहना ठीक भी है, क्योंकि वह ब्रह्म सुखमय बताया गया है। अमृत और अभयपन दोनों ही सुख के सूचक हैं। श्रुति में 'प्राणो ब्रह्म क ब्रह्म ख' इत्यादि निर्देश से प्राण ही ब्रह्म है, सुख ही ब्रह्म है, आकाश रूप ही ब्रह्म है इस प्रकार सुख विशिष्ट ब्रह्म ही अक्षिस्थ ब्रह्म समझना चाहिए।

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—च=यह, श्रुतोपनिषत्क=उपनिषद् सुनने वालों की, गति=गति है, (उसका), अभिधानात्=कथन किया गया है।

व्याख्या—उपनिषद् आदि श्रवण करने वाले ज्ञानियों की जो गति कही गई है, वही गति नेत्र में स्थित पुरुष को जानने वाले की बताई गई है। यह गति-क्रम उपकोशल के प्रति कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि उपकोशल को ब्रह्म का ही उपदेश दिया गया है। अतः अक्षि में दिखाई देने वाला पुरुष ब्रह्म है, यही मानना चाहिए।

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—अनवस्थितेः=स्थित न रहने से, च=और,

असम्भवात्=सम्भव न होने से, इतरः=अन्य, न=नहीं है।

व्याख्या—ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी किसी के नेत्र में स्थित नहीं रह सकता, इसलिए योगियों के नेत्रों में अवस्थित पुरुष ब्रह्म के सिवा और कोई नहीं है। यदि यह शंका करें कि नेत्र में किसी अन्य का प्रतिबिम्ब हो सकता है, तो यह इसलिए ठीक नहीं है कि नेत्रेन्द्रिय में प्रतिबिम्बितं दृश्य परिवर्तित होते रहते हैं। जिस समय जो दृश्य होता है, उस समय उसी का प्रतिबिम्ब नेत्र में स्पष्ट होता है, उसके हटते ही अदृश्य हो जाता है। जीव भी मन के द्वारा समय-समय पर विविध विषयों को ग्रहण करता रहता है, तब नेत्र में निरन्तर समान दृश्य स्थित नहीं रह सकता। निरन्तर दिखाई पड़ने वाला पुरुष तो ब्रह्म ही है। फिर अमृतत्व और निर्भयत्व आदि गुण भी ब्रह्म के सिवा अन्य किसी में नहीं हो सकते। इसलिए भी नेत्रान्तर्गत पुरुष को ब्रह्म ही मानना उपयुक्त है।

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ।। १८ ।।

सूत्रार्थ—अधिदैवादिषु=अधिदैव, अधिभूत, अध्यात्म प्रकरणों में, तद्धर्मव्यपदेशात्=उसके धर्म का उपदेश होने से, वह, अन्तर्यामी=ब्रह्म अन्तर्यामी है।

व्याख्या—बृहदारण्यक के अनुसार 'जो पृथिवी में रह कर भी उससे भिन्न है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसका देह पृथिवी है तथा जो पृथ्वी का नियामक है, वही अन्तर्यामी आत्म-पुरुष तथा अमृत है।' इसी सम्बन्ध में और भी कहा है कि 'यह तुम्हारा अमृत स्वरूप अन्तरात्मा दिखाई नहीं देता, किन्तु स्वयं सबको देखता है, वह सुनने में नहीं आता, परन्तु स्वयं सब कुछ सुनता है, मनन करने में न आने पर भी वह स्वयं सबका मनन करता है, वह किसी के जानने में न आते हुए भी स्वयं सब का ज्ञाता है। ऐसा यह आत्मा नाशवान् नहीं है, इससे भिन्न सभी कुछ

नष्ट होने वाला है।' इन सबसे यह सिद्ध हुआ कि इस प्रसंग में कहा जाने वाला अन्तर्यामी ब्रह्म ही है।

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—च=और, स्मार्तम्=सांख्य स्मृति द्वारा प्रतिपादित जड़ प्रकृति, न=अन्तर्यामी नहीं है, क्योंकि, अतद्धर्माभिलापात्=अन्तर्यामी में बताये हुए धर्म प्रकृति या जीव में कभी नहीं घटते।

व्याख्या—सांख्य स्मृति में जहां जड़ प्रकृति के धर्मों का वर्णन किया गया है, वहां चेतन परब्रह्म के धर्म ही प्रतिपादित हुये हैं। इस लिये वे धर्म अन्तर्यामी ब्रह्म के नहीं हो सकते। परन्तु, इस प्रकरण में 'अन्तर्यामी' शब्द से ब्रह्म का ही वर्णन मानना चाहिए।

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥२०॥

सूत्रार्थ—शारीरः=देह में निवास करने वाला जीव, च=भी, न=अन्तर्यामी नहीं है, हि=क्योंकि, उभये=दोनों माध्यन्दिनी और काण्व, अपि=भी, एनम्=इस जीवात्मा को, भेदेन=भेदपूर्वक, अधीयते=पढ़ते हैं।

व्याख्या—माध्यन्दिनी और काण्व-इन दोनों शाखा वाले ज्ञानियों ने जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट रूप से कहा है। काण्वों ने 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' वाक्य द्वारा 'जो विज्ञान में स्थित एवं विज्ञान का नियामक' बताया है और माध्यन्दिनी शाखा वालों ने 'य आत्मनि तिष्ठन्' अर्थात् आत्मा में रहने वाला और उसका 'नियामक' कहा है। इससे जीव और ब्रह्म का भेद सिद्ध है। विज्ञान् अथवा आत्मा का नियामक ब्रह्म ही हो सकता है, जीव कदापि नहीं हो सकता।

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—अदृश्यत्वादिगुणकः=अदृश्यता आदि गुण, धर्मोक्तेः=ब्रह्म के धर्म कहे गए हैं।

व्याख्या—ब्रह्म अदृश्य होने आदि गुण-धर्म वाला है। मुण्डकोपनिषद् में उसे अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अरूप, अचक्षुष्य, अश्रोत्र, अहस्त, अपाद आदि कहा गया है। फिर यह भी स्पष्ट किया गया है कि 'वह दिव्य, अमूर्त पुरुषाकार, बाहर-भीतर निवास करने वाला, अजन्मा, अप्राण, अमना, शुभ्र एवं प्रकृति तथा जीव से परे है। यह सभी गुण उस परब्रह्म परमेश्वर में ही हो सकते हैं, उससे भिन्न किसी में नहीं।

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—च=और, विशेषणं भेदव्यपदेशाभ्याम्=विशेषणों और जीव या प्रकृति से ब्रह्म का भेद कहने से, इतरौ=जीव या प्रकृति को, न=जगत का कारण नहीं कहा जा सकता।

व्याख्या—इस प्रकरण में जो विशेषण कहे हैं, वे ब्रह्म पर ही घटित होते हैं। मुण्डकोपनिषद् में 'पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायां' अर्थात् 'वह देखने वालों के हृदय गह्वर में निहित है' के अनुसार जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट है। इस प्रकार जीव या ब्रह्म प्रकृति को जगत् का उत्पत्तिकर्त्ता नहीं कह सकते, केवल ब्रह्म को ही कह सकते हैं।

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—रूपोपन्यासात्=रूप के कल्पनायुक्त कथन से, च=भी [ब्रह्म को जगत का कारण मानना चाहिए]

व्याख्या—कल्पनापूर्वक कथन को उपन्यास कहते हैं। ब्रह्म के विभिन्न रूपों की शास्त्रों में कल्पना की गई है। जैसे मुण्डकोपनिषद् (२-१-४) में कहा गया है कि 'अग्नि उस ब्रह्म का मूर्धा है, चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं, दिशाएं कान हैं, वेद वाणी, वायु, प्राण, हृदय विश्व और पृथिवी चरण हैं, यह ब्रह्म ही सब भूतों का अन्तरात्मा है।' इस प्रकार की रूप कल्पना ब्रह्म के निमित्त ही की जा सकती है, अन्य के प्रति नहीं।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—वैश्वानर=ब्रह्म का वाचक, साधारण शब्द

विशेषात् = साधारण की अपेक्षा विशेष शब्दों का प्रयोग ब्रह्म के निमित्त किया गया है।

व्याख्या—साधारण वैश्वानर शब्द की संगति में असाधारण गुणों का वर्णन होने से सिद्ध होता है कि वैश्वानर ब्रह्म के हेतु प्रयुक्त हुआ है। छांदोग्य में यह वर्णन ५-११-१ आरंभ होकर पाँचवें अध्याय की समाप्ति तक चलता है। 'को न आत्मा, किं ब्रह्म' अर्थात् हमारा आत्मा कौन है ? ब्रह्म क्या है ? प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिस इन पाँचों ऋषियों ने विचार किया कि आरुणि वैश्वानर आत्मा की उपासना में प्रवृत्त हैं, उन्हीं से उपासना के सम्बन्ध में पूछें। जब यह आरुणि से मिले तो वह इन्हें अश्वपति कैकेय के पास ले गये। राजा ने उनका समुचित सत्कार किया और पर्याप्त धन देने की इच्छा प्रकट की। आरुणि सहित सब ऋषियों ने कहा—'हमें धन की आवश्यकता नहीं है। हम तो आपसे वैश्वानर आत्मा के संबंध में जानने के निमित्त आये हैं, वही हमें बताइये।' राजा ने उन्हें अतिथि-गृह में ठहरा कर दूसरे दिन अपने पास बुला कर प्रत्येक से प्रश्न किया कि 'इस सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?' प्रथम प्राचीनशाल ने कहा कि 'मैं आत्म-रूप से द्युलोक की उपासना करता हूँ। फिर सत्ययज्ञ ने कहा—'मैं सूर्य की उपासना करता हूँ।' इन्द्रद्युम्न ने 'वायु की उपासना' करने की बात कही, जन ने 'आकाश की' और बुडिल ने 'जल की' उपासना बताई। इस पर कैकेय ने कहा—'आप विश्वात्मा वैश्वानर के एक-एक अंग की ही उपासना करते हैं, यह उपासना पूर्णाङ्गी नहीं है क्योंकि उस विश्वात्मा वैश्वानर का मस्तक द्युलोक, नेत्र, सूर्य, प्राण वायु, देह का मध्य भाग आकाश, बस्ति स्थान जल, चरण पृथिवी, वक्षःस्थल वेदी, लोम दर्भ, हृदय गार्हपत्य अग्नि, मन अन्वाहार्यपचन अग्नि और मुख आहवनीय अग्नि है।' इसी वैश्वानर शब्द को यहाँ ब्रह्म का वाचक कहा है क्योंकि ब्रह्म के विशेष लक्षणों का निर्देश होने से वैश्वानर को ब्रह्म ही मानना चाहिए।

स्मर्य्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—स्मर्य्यमाणम् = स्मृतियों में कहा हुआ होने से,

इति=यह, अनुमानम्=अनुमान,स्यात्=होता है कि वैश्वानर का उक्त प्रकार से वर्णन उसे ब्रह्म होना सिद्ध करता है।

व्याख्या—स्मृतियाँ भी वैश्वानर को ब्रह्म वाचक ही बताती हैं। मनुस्मृति में 'लाकानां तु विवृद्ध्यर्थं' द्वारा ब्रह्म के वैश्वानरत्व का कथन किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्ण कहते हैं कि 'मैं वैश्वानर रूप से प्राणियों के देहाश्रित हो अवस्थान करता हूँ।' महाभारत के शान्ति पर्व में भो 'जिसका अग्नि मुख, द्युलाक मस्तक, आकाश नाभि, पृथ्वी चरण, सूर्य चक्षु और दिशायें श्रोत हैं, उन सर्व लोक स्वरूप परमेश्वर को नमस्कार' का उल्लेख है। यह सब वर्णन वैश्वानर का ब्रह्म होना सिद्ध करते हैं।

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—शब्दादिभ्यः=शब्दादि के द्वारा, च=और, अन्तः प्रतिष्ठानात्=अन्तर में स्थित होने से, चेत्=यदि, इति=इस प्रकार कहो कि, न=ब्रह्म वैश्वानर नहीं है, न=ऐसा नहीं है, क्योंकि, तथा दृष्ट्युपदेशात्=इस दृष्टि से दिये गए उपदेश से, असम्भवात्=जठराग्नि के यह विशेषण नहीं हो सकते, च=और, एनम्=इस वैश्वानर को, पुरुषम्=पुरुष, अपि=भी, अधीयते=पढ़ते हैं।

व्याख्या—यदि ऐसा कहो कि वैश्वानर देह धारियों के भीतर प्रतिष्ठित जठराग्नि है, ऐसा ही शब्दार्थ द्वारा सिद्ध होता है, तो यह कहना नितान्त भ्रममूलक है, क्योंकि शास्त्रादि में जो उपदेश दिये गए हैं, उन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि वैश्वानर परम पुरुष रूप ब्रह्म के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। 'शतपथ ब्राह्मण' में 'स योहैतमेवग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' अर्थात् 'जो इस वैश्वानर अग्नि को पुरुषाकार और पुरुष के भीतर प्रतिष्ठित जानता है' कहकर ब्रह्म के अर्थ

में स्पष्ट रूप से प्रयुक्त कर दिया है। यदि इन शब्दों में भी जठराग्नि होने की शङ्का की जाय तो जठराग्नि के लिए 'द्युमूर्द्धादिक' विशेषण किसी प्रकार सम्भव नहीं है। अतः वैश्वानर शब्द यहाँ ब्रह्म के लिये ही कहा है।

अत एव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—अतः=इस प्रकरण, एव=ही, देवता=अग्नि, च=और, भूतम्=भूत, न=वैश्वानर नहीं हैं।

व्याख्या—उपरोक्त किसी भी युक्ति से वैश्वानर का जठराग्नि अथवा पञ्चभौतिक पदार्थ होना सिद्ध नहीं होता। मत्रवर्ण में 'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अंतरिक्ष' अर्थात् 'जो भूताग्नि भानु रूप से पृथ्वी, आकाश और अंतरिक्ष में व्याप्त है' ऐसा कहा है. उससे भी किसी भूताग्नि का वैश्वानर होना सिद्ध नहीं है, क्योंकि मंत्रवर्ण में कहीं-कहीं इस प्रकार के विशेषण केवल प्रशंसा रूप में ही कहे गये हैं।

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ—जैमिनिः=आचार्य जैमिनि यह मानते हैं कि, साक्षात्=वैश्वानर को साक्षात् ब्रह्म वाचक मानने में, अपि=भी, अविरोधम्=कोई विरोध नहीं हैं।

व्याख्या—आचार्य जैमिनी का मत है कि ब्रह्म के नेतृत्व बोध से और सर्व कारण रूप ब्रह्म-बोधक 'वैश्वानर' शब्द के समान नयनादि गुण की संगति होने के कारण अग्नि को भी साक्षात् ब्रह्म मान लेना चाहिए। इससे भी वैश्वानर शब्द ब्रह्म वाचक ही समझना ठीक है।

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ—आश्मरथ्यः=आश्मरथ्याचार्य का, इति=यह मत है कि, अभिव्यक्तेः=(उपासकों के हेतु) ब्रह्म प्रकट होता है।

व्याख्या—आश्मरथ्याचार्य ने ब्रह्म का प्रादेश रूप में साकार होना स्वीकार किया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी 'अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं

सृजाम्यहम्' अर्थात् 'धर्म के अभ्युत्थान हेतु मैं अपने रूप को रचता हूँ' कहकर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने सगुण रूप में प्रकट होने की बात कही है।

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—बादरिः=बादरि आचार्य का मत है कि, अनुस्मृतेः=उपासना-काल में प्रादेशमात्र से स्मरण करने के कारण वैश्वानर ब्रह्म ही है।

व्याख्या—वेद वाक्य समूहों ने ब्रह्म को देशकाल से परे कहा है, फिर भी बादरि आचार्य उसका निरन्तर ध्यान और मन में स्मरण किया जाने के कारण ब्रह्म को प्रादेश मात्र कहते हैं।

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ—जैमिनिः=आचार्य जैमिनी, इति=ऐसा मानते हैं कि, सम्पत्ते=ब्रह्म ऐश्वर्यवान् है, तथा हि=ऐसा ही भाव, दर्शयति=अन्य श्रुतियाँ भी दिखाती हैं।

व्याख्या—आचार्य जैमिनि के मत में ब्रह्म परमैश्वर्यशाली है। अन्य श्रुतियों ने भी उनके इस मत का समर्थन किया है। ऐश्वर्यवान् होने से प्रादेशमात्रत्व भी उनकी अचिन्त्य शक्ति के परिचायक हैं। क्योंकि ब्रह्म विश्व के सभी प्रदेशों में विद्यमान है। शतपथ ब्राह्मण में 'प्रादेशमात्रमिव ह देवाः' इत्यादि से मस्तक, नेत्र, नासिका, मुख, चिबुक चाहे जीव की हो अथवा सम्पूर्ण विश्व की, उन सब में वैश्वानर ब्रह्म का निवास है। अतः ब्रह्म को प्रादेश मात्र कथन करने में कोई विरोध नहीं है।

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ—अस्मिन्=इस प्रकरण में, एनम्=इस ब्रह्म को, च=ही, आमनन्ति=मानते हैं।

व्याख्या चाहे प्रादेश मात्र कहें, परमैश्वर्यशाली कहें अथवा सर्वव्यापी आदि मानें, सभी प्रकार से इस प्रकरण में ब्रह्म का ही प्रतिपादन हुआ है। वास्तव में ब्रह्म के स्वरूप पर तर्क से कार्य नहीं चलता। क्योंकि स्मृति में भी ब्रह्म को तर्क-बुद्धि से परे और अचिन्त्य कहा गया है। ब्रह्म प्राप्ति के निमित्त उपासना किसी भी प्रकार करे, परन्तु उसे सर्वशक्तिमान, सर्वनियन्ता आदि मानते हुये चिन्तन में लग जाय। वह ब्रह्म सर्वत्र, सभी रूपों में विद्यमान है, ऐसा मानना ही कल्याणकारी सिद्ध होगा।

॥ द्वितीयः पादः समाप्त ॥

तृतीयः पादः

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—द्युभ्वाद्यायतनम् = स्वर्गादि का आयतन रूपः स्वशब्दात् = 'आत्म' शब्द से बोधित ब्रह्म।

व्याख्या—ब्रह्म को स्वर्गादि का आश्रय रूप एवं 'आत्मा' कहा है। मुण्डकोपनिषद् में उसे 'आत्मानमन्या' अर्थात् 'आत्म-स्वरूप' और 'अमृतस्यैष सेतुः' अर्थात् 'अमृत का सेतु' कहा गया है। इस मंत्र में जिस आत्मा को सम्पूर्ण विश्व का आधार माना है, वह 'ब्रह्म' वाचक ही है।

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—मुक्तः = मुक्त पुरुषों का, उपसृप्य = प्राप्तव्य, (वह ब्रह्म) व्यपदेशात् = कहा गया है।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद् (३-१-३) के अनुसार 'यह जीव स्वयंभू, तेजस्वरूप, सृष्टिकर्त्ता, पुरुषोत्तम के दर्शन कर लेता है, तब वह

पाप-पुण्य से मुक्त हो जाता है और ब्रह्म से साम्य प्राप्त करता है।' इससे सिद्ध हुआ कि मुक्त पुरुषों के लिए ब्रह्म ही प्राप्तव्य है।

नानुमानमतच्छब्दात् ।। ३ ।।

सूत्रार्थ—अनुमानम्=अनुमान से, कल्पना से, न=(प्रधान) पृथिवी और स्वर्ग का आधार नहीं हो सकता, क्योंकि, अतच्छब्दात्=उसका प्रतिपादन शब्द द्वारा नहीं हुआ है।

व्याख्या—जड़ प्रकृति को पृथिवी और स्वर्ग का आधार बताने वाला कोई शब्द इस प्रकरण में प्रयुक्त नहीं हुआ है। इसलिए पृथिवी और स्वर्ग का आश्रय 'ब्रह्म' को ही मानना चाहिए।

प्राणभृच्च ।। ४ ।।

सूत्रार्थ—प्राणभृत्=जीवात्मा, च=भी नहीं हो सकता)।

व्याख्या—जैसे जड़ प्रकृति को स्वर्ग-पृथिवी का आधार मानने के पक्ष में कोई शब्द नहीं मिलता वैसे ही जीवात्मा को भी आधार मानने के लिए भी कोई शब्द नहीं है। अतः स्वर्ग और पृथिवी का आयतन केवल 'ब्रह्म' है अन्य कोई नही है।

भेदव्यपदेशात् ।। ५ ।

सूत्रार्थ—भेदव्यपदेशात्=आत्मा और जीवात्मा में भेद कहने के कारण।

व्याख्या—आत्मा और जीव में भिन्नता बताई जाने से भी जीवात्मा स्वर्गादि का आधार नही हो सकता। सांसारिक माया में फँसा हुआ जीव मोहादि के वशीभूत होता है, परंतु जब वह ब्रह्म को जान लेता है तो उसके मोहादि विकार नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट हो जाता है। इससे सिद्ध है कि स्वर्गादि का आधार जीव या प्रकृति नहीं, केवल ब्रह्म ही हो सकता है।

प्रकरणात् ।। ६ ।।

सूत्रार्थ—प्रकरणात्=प्रकरण से।

व्याख्या—इस प्रकरण में ब्रह्म का ही विवेचन किया गया है, इसलिए अन्य किसी के विवेचन का प्रश्न नहीं उठता। 'जिसके जान लेने से सभी कुछ जान लिया जाता है' यह गुण केवल ब्रह्म में ही है। इसलिए ब्रह्म को ही सबका आयतन मानना चाहिए।

स्थित्यदनाभ्यां च ।। ७ ।।

सूत्रार्थ—स्थित्यदनाभ्याम्=स्थिति और भोग द्वारा, च=भी।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद् (३–१–१) में स्थिति और भोग का जो विवेचन किया है, उससे जीवात्मा और परमात्मा का भेद स्पष्ट परिलक्षित होता है। यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

अर्थात्—'एक साथ रहने वाले दो पक्षी मित्र एक ही देह रूप वृक्ष पर रहते हैं। उनमें से एक तो उस वृक्ष के भोक्तव्य कर्म-फलादि को भोगता और दूसरा बिना भोगे ही केवल साक्षी रूप से प्रकाश करता है।' इसके अनुसार कर्मफलादि का भोक्ता जीव है और बिना भोगे ही स्थित रहने वाला ब्रह्म है। इस प्रकार भोग और स्थिति के वर्णन से भी जीव और ब्रह्म की भिन्नता सिद्ध होती है।

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ।। ८ ।।

सूत्रार्थ—भूमा=सबसे बड़ा, ब्रह्म वाचक, सम्प्रसादात्=सुषुप्ति एवं प्राण वाचक होने से जीव का उपलक्ष है, अधि=बड़ा, उपदेशात्=कहा गया है।

व्याख्या—जीव से अधिक-धर्मा ब्रह्म कहा गया है, इसलिए भूमा ब्रह्म ही है। वहु शब्द से भूमा शब्द बना है, इसे बहुत्व अथवा वैपुल्य अर्थक मानना चाहिए। यद्यपि वैपुल्य शब्द से गुणों के उत्कर्ष मात्र का ग्रहण होता है, परन्तु अल्प शब्द के सम्मुख इसका अर्थ विपुलता का महत्व प्रदर्शित करना है। छांदोग्य उप० के सातवें अध्याय में सनत्कुमार ने कहा है 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' अर्थात् 'भूमा ही तो जानने योग्य है।' इससे भूमा की विशिष्टता सिद्ध होती है। परन्तु, एक शंका भी होती है कि महर्षि सनत्कुमार ने भूमा शब्द प्राण के निमित्त प्रयुक्त किया है अथवा ब्रह्म के निमित्त ? इसका समाधान यह है कि 'सम्प्रसाद' शब्द प्राण वाची होने से जीव का उपलक्षक तो है, परन्तु वह जीव प्रभु-कृपा प्राप्त मुक्त पुरुष होना चाहिए। क्योंकि सर्वथा सुखी जीव ही सम्प्रसाद कहलाता है। भूमा पुरुष सम्प्रसाद रूप प्राण से भी अधिक गुणयुक्त कहा गया है। प्राण को भूमा मान लें तो उसके ऊपर स्थित भूमा का उपदेश संभव नहीं है। फिर 'भूमा की जिज्ञासा' से ब्रह्म की जिज्ञासा का ही उपदेश हो सकता है, प्राण की जिज्ञासा से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसलिए भूमा शब्द ब्रह्म के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—धर्मोपपत्तेः=धर्मों की संगति से, च=भी।

व्याख्या—भूमा में जिन धर्मों का होना कहा गया है, उनकी संगति ब्रह्म से ही होती है। इसलिये भी भूमा शब्द ब्रह्मवाची ही मानना चाहिए। छान्दोग्य (७।२४।१) के अनुसार 'जहाँ अन्य किसी को नहीं देखता, अन्य किसी को श्रवण नहीं करता, अन्य किसी को नहीं जानता, वह भूमा है। अन्य को देखने, सुनने, जानने वाला अल्प है। भूमा अमृत है और अल्प नष्ट होने वाला है।' नारद ने पूछा—'भूमा कहाँ प्रतिष्ठित है ? तो उत्तर मिला 'अपनी ही महिमा में।' इस प्रकार भूमा का स्वाश्रयत्व

प्रतिपादित है जो कि ब्रह्म में ही हो सकता है, जीव में नहीं हो सकता। इसलिए भी भूमा को ब्रह्म वाचक ही मानना चाहिए।

अक्षरमम्बरान्तधृते ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—अक्षरम्=क्षरित न होने वाला, अविनाशी ब्रह्म, अम्बरान्तघृते:=आकाशपर्यन्त सम्पूर्ण विश्व का धारण करने वाला।

व्याख्या—वह अक्षर ब्रह्म आकाश पर्यन्त संपूर्ण विश्व को धारण करता है। अक्षर शब्द यहाँ ब्रह्म का वाचक है। गार्गी ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि अव्याकृत आकाश किसमें ओत-प्रोत है? 'एतस्मिन् खलु अक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' अर्थात् 'एक मात्र अक्षर पुरुष में ही आकाश ओतप्रोत रहता है।' इसके साथ उस अक्षर का रूप निर्देश करते हुए भी याज्ञवल्क्य जी कहते हैं—'जो न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न लघु है, न दीर्घ है, न लाल है, न गीला है।' इस प्रकार के रूप-गुण की विशेषता ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी में भी नहीं हो सकती।

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—च=और, सा=वह (अर्थात् उसे) प्रशासनात्=सभी पर शासन करने वाला कहा गया है।

व्याख्या—ब्रह्म का प्रशासन संपूर्ण जगत पर है। सभी चराचर उसके इंगित पर अपने-अपने धर्मों का पालन करते है। वृहदारण्यक के अनुसार 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत:, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत।' अर्थात्—'हे गार्गि! इस अक्षर के प्रशासन में रह कर ही सूर्य चन्द्रमा स्थित हैं और इसी अक्षर के प्रशासन वश द्यावा-पृथिवी भी टिके हुए हैं।' इस प्रकार का प्रशासन ब्रह्म में सम्भव है; जड़ प्रकृति या जीव में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह संसार का धारण कर सके।

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।। १२ ।।

सूत्रार्थ—अन्यभावव्यावृत्तेः=अन्य का निषेध कर देने से, च=भी ।

व्याख्या—अन्य पदार्थ जीवादि भाव का निषेध कर देने से भी यहाँ ब्रह्म का वर्णन हुआ है। 'अदृष्टं द्रष्टृ, अश्रुतं श्रोतृ, अमन्तं मन्त, अविज्ञातं विज्ञातृ' अर्थात् 'जो अदृश्य रह कर सबको देखता है, अश्रुत होकर भी सबको सुनता है, जो मनन में न आने वाला है, परन्तु सबको मनन करता है, उसे कोई नहीं जानता, परन्तु वह सबको जानता है।' इस श्रुति वाक्य के अनुसार यह सामर्थ्य ब्रह्म में ही है। जीव का यह सामर्थ्य नहीं कि वह स्वयं अप्रकट रह कर सबको देख-सुन सके। इस लिए 'अक्षर' शब्द वाची जीवादि नहीं, केवल ब्रह्म है।

ईक्षतिकर्म्मव्यपदेशात् सः ।। १३ ।।

सूत्रार्थ—ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्=ईक्षण क्रिया के उपदेश से भी, स=वह ब्रह्म ही है।

व्याख्या—ईक्षण कर्म का विषय ब्रह्म ही है। प्रश्नोपनिषद् (५-५) में 'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते, अर्थात् 'वह इन उपासना करने वाला जीवों से परे जो हिरण्यगर्भ है, उससे भी जो परमपुरुष है उसका दर्शन करता है' के अनुसार सिद्ध होता है कि ईक्षण कर्म ब्रह्म का ही है, अन्य किसी का नहीं। क्योंकि ईक्षण कर्म अर्थात् जिसके दर्शन किए जाते हैं, वह ब्रह्म है। जीव परमधाम में जाकर उसी के दर्शन करता है।

दहर उत्तरेभ्यः ।। १४ ।।

सूत्रार्थ—उत्तरेभ्यः=आगे कहे हुए वाक्यों से, दहर=ब्रह्मवाची है।

व्याख्या— दहर के सम्बन्ध में छान्दोग्य (८-१-१) वर्णन है कि 'अथयदिदस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम् ।' अर्थात्—'इस ब्रह्मपुर में कमल के आकार का एक गृह है, उसके भीतर जो आकाश है, उसे जानने की इच्छा करे। यहाँ ब्रह्मपुर का तात्पर्य मनुष्य देह से है, कमलाकार गृह हृदय है, उसमें जिसे जानने की जिज्ञासा का उपदेश है वह 'दहर' ब्रह्म ही है। फिर (८-१-५) में दहर को सुकृत, दुष्कृत, मरण, शोक, बुभुक्षा और पिपासा से रहित कहा है। ८-३-२ 'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' कह कर 'प्रतिदिन मृत्यु को प्राप्त होने वाले सब जीवों को ब्रह्मलोक की प्राप्ति न होने' की बात कही है। इसमें गतिवाचक दोनों शब्द 'गच्छन्त्यः' और 'विन्दन्ति' दोनों में गति का कर्म ब्रह्म है जो प्रकरण में उपस्थित 'दहर' शब्द का वाची है। इस प्रकार 'दहर' शब्द को यहाँ ब्रह्म के हेतु ही प्रयुक्त समझना उचित है। गति के सम्बन्ध में आगे का सूत्र और भी स्पष्ट कर देता है।

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ।। १५ ।।

सूत्रार्थ—गतिशब्दाभ्याम्=गति वाचक शब्दों में ब्रह्म का निर्देश होने से, लिंगम्=इस प्रसंग में ब्रह्म के लक्षण हैं, च=और, तथा=ऐसा वर्णन, हि=ही, दृष्टम्=श्रुतियों में भी देखा जाता है।

व्याख्या—दहर को सुषुप्ति का स्थान तथा ब्रह्मलोक होना श्रुतियों ने भी बताया है। सुषुप्ति के समय में दहर में जाने की बात कह कर उसे ब्रह्मलोक कहा है। छान्दोग्य (६-९-२) के अनुसार 'सति सम्पद्य न विदुः सति संपद्यामहे' अर्थात् 'यह प्रजा सुषुप्ति काल में, ब्रह्म में लीन होने पर भी यह नहीं जानती कि वह ब्रह्म में लीन है।' इस प्रकार 'दहर' ब्रह्मलोकवाची होने से भी ब्रह्म का ही द्योतक है।

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।। १६ ।।

सूत्राथ—अस्मिन्=इस 'दहर' वाची ब्रह्म में, धृतेः=सब लोकों के धारण करने की सामर्थ्य होने के कारण, च=और, अस्य=इस ब्रह्म की, महिम्नः=महिमा, उपलब्धेः=उपलब्ध होने के कारण दहर ब्रह्मवाचक ही है।

व्याख्या– छान्दोग्य (८-४-१) में "य आत्मा स सेतुर्विधतिरेषां लोकानामसंभेदाय" अर्थात्–'यह आत्मा सेतु के समान सब लोकों का धारण करने वाला है।' इस प्रकार दहर का वाचक आत्मा सब लोकों के धारण करने की शक्ति रखता है और यह शक्ति केवल ब्रह्म में ही है। यदि मर्यादापूर्वक सबको धारण न करे तो सभी पदार्थ परस्पर मिल जांय, अपने धर्मों को छोड़ दें। जीव या प्रकृति में ऐसा सामर्थ्य कहाँ है कि वह सब लोकों का धारण करे, वह भी समर्याद ! इस प्रकार 'दहर' से ब्रह्म को प्रयोजनीय समझना चाहिए।

प्रसिद्धेश्च ।। १७ ।।

सूत्रार्थ—प्रसिद्धेः=यह प्रसिद्ध है कि 'आकाश' शब्द ब्रह्म वाचक है इसलिये, च=भी 'दहर' ब्रह्मवाची है।

व्याख्या– 'आकाश' शब्द ब्रह्मार्थक है। 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' अर्थात् 'यह सभी भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं।' तथा 'आकाशो वै नाम रूपयोर्निर्वहिता' (छां० ८-१-१४) 'आकाश ही नाम और रूपों का निर्वाहक है' तथा श्रुति में 'दहराकाश' नाम का उल्लेख होने से 'दहर' शब्द की प्रसिद्धि 'ब्रह्म' वाची होने से है।

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् । १८ ।।

सूत्रार्थ—चेत=यदि, इति=ऐसा कहो कि, इतर परामर्शात्=अन्य अर्थात् जीव का अर्थ ग्रहण करने से, सः=वह

(जीवात्मा ही) 'दहर' है तो यह कहना, न=ठीक नहीं है, क्योंकि, असम्भवात्=जीव में उन लक्षणों का होना सम्भव नहीं है।

व्याख्या—छान्दोग्य (८।१।५) के अनुसार आचार्य कहते हैं कि 'जरावस्था से यह जीर्ण नहीं होता, वध होने पर मरता नहीं, यह ब्रह्मपुर सत्य है, कामादि विषय इसमें भले प्रकार स्थित हैं, यह आत्मा पाप-पुण्य-रहित, जरा-मृत्यु से परे, शोक से परे, क्षुधा-पिपासा से दूर, सत्य काम एवं सत्य सङ्कल्प है।' इस श्रुति में जीवात्मा के प्रबोध की शङ्का होती है। परन्तु जीवात्मा में सत्य सङ्कल्प आदि लक्षण नहीं हो सकते। यह भी संभव नहीं है कि परिच्छिन्न जीवात्मा आकाश में व्याप्त होकर उसे धारणादि कर सके। अतः स्पष्ट है कि उपक्रम में कहे गए अष्ट महागुण जीवात्मा में उपस्थित न हो सकने के कारण 'दहर' शब्द ब्रह्म के लिए ही कहा गया है।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, उत्तरात्=अगले विवरण से जीवात्मा का ग्रहण जान पड़ता है, तु=तो (यह ठीक नहीं), क्योंकि, आविर्भूत स्वरूप=ब्रह्म को प्राप्त हुआ आत्मा स्वरूप सम्पन्न कहा गया है।

व्याख्या—यह शङ्का हो सकती है कि ब्रह्म को प्राप्त होने पर जीवात्मा भी सत्यकाम एवं सत्य संकल्प हो सकता है। छांदोग्य (८।३।४) में कहा है कि 'यह सम्प्रसाद आत्मा देह त्याग कर अपने परम ज्योतिर्मय शुद्ध रूप से सम्पन्न होता है। यह आत्मा, अमृत और ब्रह्म है, उस ब्रह्म का नाम ही सत्य है।' 'सम्प्रसाद' से भी स्पष्ट जीवात्मा का कथन है, इसलिए 'दहर' जीवात्मा बोधक क्यों नहीं हो सकता ? परन्तु, मुक्त होकर भी जीव का अपने शुद्ध स्वरूप (अपने अस्तित्व) में वर्तमान रहना

कहा है, वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, किन्तु ब्रह्म में मिल नहीं जाता। इसलिए 'दहर' शब्द ब्रह्मवाची ही है।

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—च=और, अन्यार्थः=दूसरे के निमित्त (जीवात्मा के निमित्त) परामर्शः=परामर्श किया गया है।

व्याख्या—इस प्रकरण में जीव-परामर्श, ब्रह्म-ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस ब्रह्म को प्राप्त करने वाला जीव अष्टगुण सम्पन्न स्वरूप में अवस्थान करता है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके जीव भी अपने में ब्रह्म के अनेक गुणों को प्राप्त कर लेता है और तभी उसे ब्रह्म के अधिक गुणयुक्त स्वरूप का ज्ञान होता है। निज रूप का ज्ञान भी ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति में सहायक है। परन्तु, उसकी प्राप्ति होने पर भी जीवात्मा ब्रह्म नहीं बन जाता। इसलिए 'दहर' शब्द का जीवात्मा-वाची होना सिद्ध नहीं होता।

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ=चेत्=यदि, इति—यह कहो कि, अल्पश्रुतेः=दहर को अल्प सुना गया है (इसलिए 'दहर' को जीववाची माना गया है), तदुक्तम्=तो इस सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है।

व्याख्या—'दहरोऽस्मिन्निति' में अल्पत्व सुनने के कारण उसके जीववाची होने की शङ्का होती है, परन्तु इसका समाधान सूत्र १।२।७ में दिया जा चुका है।

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—च=और, तस्य=उस ब्रह्म के, अनुकृतेः=अनुकरण से जीव भी कर्ममुक्त हो जाता है।

व्याख्या—विमुक्त जीवात्मा ब्रह्म की सङ्गति से ही कर्म-मुक्त होता है। इससे सिद्ध हुआ कि जीव पहिले से सांसारिक कर्म-बन्धन मे

होने के कारण 'दहर' नहीं हो सकता। गुणाष्टक-विशिष्ट दहर का प्रजापति वाक्य से आविर्भूत गुणाष्टक जीव के द्वारा अनुकरण करने से भी जीवात्मा 'दहर' से भिन्न है।

अपि च स्मर्यते ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—च=और, अपि=यही, स्मर्यते=स्मृतियाँ कहती हैं।

व्याख्या—ब्रह्म की संगति प्राप्त होने की बात सभी स्मृतियाँ कहती हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—'इति ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥' अर्थात्—'इस ज्ञान का आश्रय लेकर जो मेरे साम्य को प्राप्त हो गये' वे सब सृष्टि काल में उत्पन्न नहीं होते और प्रलय काल से भी व्यथित नहीं होते।' इससे मुक्त जीव का ब्रह्म साधर्म्म तो लक्षित होता है, परन्तु इससे जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि 'दहर' शब्द से ब्रह्म का ही कथन है, जीवात्मा का नहीं।

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—शब्दात्=शब्द से कहा, प्रमितः=अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला पुरुष 'ब्रह्म', एव=ही है।

व्याख्या—कठवल्ली में कहा गया है कि 'हृदय के मध्य अवस्थान करने वाला अंगुष्ठ मात्र पुरुष भूत-भव्य का नियामक है।' भूत-भव्य का नियामकत्व जीवात्मा के लिए कदापि संभव नहीं है, अतः अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला पुरुष 'ब्रह्म' ही समझना चाहिए।

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—तु=उस ब्रह्म को अँगूठे के माप वाला कहना तो, हृदि=हृदय में कहे जाने, अपेक्षया=के कारण से है, मनुष्याधिकारत्वात्=क्योंकि इसका अधिकार मनुष्य को ही है।

व्याख्या—उपनिषदों में कही हुई ब्रह्म-विद्या के जानने का अधिकार मनुष्य को ही है। पशु-पक्षी आदि की अन्य योनियों में उत्पन्न जीवात्मा ब्रह्म को नहीं जान सकता, क्योंकि मनुष्य के हृदय का परिमाण अँगूठे के बराबर कहा गया है, इसलिए मनुष्य के हृदय की माप के भाव से ब्रह्म को 'अंगुष्ठ मात्र पुरुष' कथन किया है।

तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—बादरायणः = बादरायण आचार्य का मत है कि, तदुपरि=इन मनुष्यों से ऊपर जो देव-समाज हैं, अपि=उसको भी, सम्भवात्=जान लेना सम्भव है।

व्याख्या—देवादिवृन्द मनुष्यों से भी अधिक सामर्थ्यवान् हैं और वे भी ब्रह्म-विद्या को जानने के अधिकारी हैं। इसके सम्बन्ध में श्रुति भी है। बृहदारण्यक के अनुसार 'जो–जो देवता तादृश ब्रह्म की उपासना करता है, वह-वह देवता उस ब्रह्म को प्राप्त होता है।'

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि देवादि को देहधारी मानने पर, कर्मणि=कर्म में, विरोध=विरोध है तो, इति न = यह कहना ठीक नहीं है, अनेक प्रतिपत्तेः=क्योंकि वे अनेक रूप धारण करने वाले हैं, दर्शनात्=यह देखा गया है।

व्याख्या—देवताओं को यदि मनुष्य के समान शरीरधारी मान लें तो उन्हें एक स्थान पर रहने वाला भी मानना होगा। यदि ऐसा मानते हैं तो एक ही समय अनेक यज्ञों में दी जाने वाली आहुतियों को वे किस प्रकार ग्रहण करेंगे, क्योंकि शरीरधारी होने से वे एक समय में, एक ही यज्ञ में जा सकते हैं। इसलिए एक समय में ही अलग-अलग यज्ञों में एक देवता को ही आहुति समर्पित करने के विधान में विरोध उत्पन्न होगा। इस विरोध का समाधान तभी हो सकता है, जब देवताओं को एक स्थान

वाला न मान कर सर्वव्यापक (सब स्थान पर रहने वाला) माना जाय। इस शङ्का का समाधान यह है कि देवगण एक समय में ही अनेक रूप धारण करने की सामर्थ्य रखते हैं, इसलिए वे एक समय में ही अनेक स्थानों पर समर्पण की जाने वाली हवियों को ग्रहण कर सकते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्यजी ने देवताओं की संख्या केवल तेतीस बताई है, परन्तु वे उन्हें एक-एक का अनेक हो जाना स्वीकार करते हैं।

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२८॥

सूत्रार्थ—चेत् = यदि कहो कि, शब्द = शब्द में विरोध है तो, इति न = ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि, प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् = प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही से, अतः प्रभवात् = यह प्रकट है।

व्याख्या—कर्मों में विरोध की आशंका ठीक नहीं। जो कर्म मनुष्य करते हैं, वह देवता भी कर सकते हैं। यदि कहें कि कर्म में विरोध नहीं, शब्द में विरोध आता है, क्योंकि देहधारी होने पर देवताओं को जन्म-मरण धारण करने वाला मानना होगा, फिर वे अमर नहीं रहेंगे। परन्तु, यह शंका इसलिए निर्मूल है कि वेद-वाक्य-समूह द्वारा देवताओं के नाम, रूप, ऐश्वर्य आदि की कल्पना की है। जैसे—'प्रजापति ने सब इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता, मनुष्य, पितृगण, ग्रहगण, स्तोत्र-समूह, मन्त्रगण और सौभाग्यमयी प्रजाओं की रचना की।' यह शब्द श्रुति के (प्रत्यक्ष) हैं। अनुमान रूप स्मृति में भी सभी के नाम, रूप, कर्म आदि की ब्रह्म द्वारा सृष्टि करने की बात कही है।

अतएव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ—अतः = इससे, एव = ही, नित्यत्वम् = नित्यता अथवा अखण्डनीयता, च = भी सिद्ध होती है।

व्याख्या—ऋग्वेद संहिता (१०।७१।३) के अनुसार 'वेद से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है' इसलिए वेदों का नित्य होना सिद्ध होता है। वेदव्यासजी ने कहा है—"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय, लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा" अर्थात्—'युग के अन्त में इतिहास और वेद विलीन हो गये थे, फिर उन्हें ब्रह्माजी की आज्ञा से सृष्टि के प्रारम्भ में महर्षियों ने तप के द्वारा प्राप्त किया।' इससे भी वेदों का नाशवान् होना सिद्ध नहीं होता।

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—च=और, समान नामरूपत्वात्=पहले उत्पन्न हुई सृष्टि के समान ही नाम और रूप होने के कारण, आवृत्तौ=सृष्टि के फिर उत्पन्न होने पर, अपि=भी, अविरोधः=वैसा ही नाम, रूप होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि, दर्शनात्=वेदों में भी ऐसा ही देखा जाता है, च=और, स्मृतेः=स्मृति भी यही कहती है।

व्याख्या—महाप्रलय में सृष्टि के लीन होने से पहिले जो नाम, रूप होते हैं, वही प्रलय के पश्चात् पुनः उत्पन्न होने वाली सृष्टि में भी होते हैं। वेद भी ब्रह्म में एकीभूत हो जाते हैं और नव रचित सृष्टि में फिर प्रकट हो जाते हैं। 'वेद' शब्द के द्वारा ही जो-जो आकार पहिले थे, उनको देखते हुए, उन्हीं-उन्हीं आकारों में रचना होती है। ऋग्वेद (१०।१९०।३) में 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वम् कल्पयत्' के अनुसार 'विश्व की रचना करने वाले ब्रह्म ने सूर्य-चन्द्रमा आदि की पहिले के समान ही रचना की।' महाभारत में भी कहा गया है कि 'पहिले कल्प में जिन्होंने जिन कर्मों को अपनाया था, उन्होंने बाद की सृष्टि रचनाओं में भी बारम्बार उन्हीं कर्मों को प्राप्त किया।'

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ—मध्वादिषु=मधु आदि में, अनधिकारम्=देवताओं का अधिकार न होने की बात, जैमिनिः=जैमिनि आचार्य कहते हैं, क्योंकि यह, असम्भवात्=संभव नहीं है।

—जैमिनि का कहना अनुचित नहीं है, क्योंकि जो स्वयं उपास्य है, वह उपासक क्यों बनेगा ? देवताओं ने मधु-विद्या का फल रूप वसुत्व प्राप्त किया है, तो पुनः वसुत्व प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं है। छान्दोग्य में 'सूर्य को देवताओं का मधुचक्र रूप और अंतरिक्ष को उस मधुचक्र की धुरी' कहा गया है। सूर्य का देवताओं के लिए मधु रूप होना तथा किरणों का छेद रूप से वर्णन है। चारों वेदों द्वारा कहे गए कर्म और ओंकार उसके पाँच पुष्प हैं। यज्ञ की अग्नि में हुत—सोम, जो द्रव्य लाल, श्वेत, काले, धूमिल और गोप्य नामक पञ्चामृत रूप से पाँच पुष्पों में रखे गए हैं। उस-उस मन्त्र-भाग रूप मधुकर द्वारा पूर्व आदि तथा ऊपर की इन पाँच दिशाओं में फैली हुई किरण रूप नाड़ी मार्ग में यह आदित्य-मधुचक्र लाया गया। वहाँ वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत, साध्य इन पाँच देवताओं ने क्रमपूर्वक यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्न रूप धारण कर उक्त पञ्चामृत को अपने-अपने गणों में मुख्य-मुख्य देवताओं द्वारा अग्नि रूप मुख से पीकर तृप्ति प्राप्त की।' इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्यों के मधु और देवताओं के मधु में समानता नहीं है। इसलिए जैमिनि ने उनके अधिकार न होने का निर्देश किया है और जिस वस्तु पर अधिकार नहीं, उसका प्रयोग भी असम्भव ही है।

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ—ज्योतिषि=ज्योतिर्मय, प्रकाशमय, भावात्=होने से, च=भी।

व्याख्या—देवगण प्रकाशमय दिव्यलोकों में निवास करते हैं। 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योति' के अनुसार 'वे देवता ज्योतिर्मय पदार्थों के प्रकाशक' कहे गए हैं। फिर वे ज्योति स्वरूप ब्रह्म के उपासक होने के कारण अन्य विद्या अथवा भिन्न उपासना में अधिकार न होना स्वाभाविक ही है।

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ=बादरायणः=बादरायण आचार्य, तु=तो, भावम्=देवता आदि के अधिकार का भाव मानते हैं, हि=क्योंकि, अस्ति=(इसका वर्णन) है।

व्याख्या—जैमिनि के द्वारा देवताओं का मधुविद्या में अधिकार न होने की बात कहने पर भी बादरायण उनका अधिकार होना मानते हैं, इस प्रकार के प्रमाण श्रुतियों में भी मिलते हैं। तै० ब्राह्मण (२।१।२।८) के अनुसार 'प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति स एतदग्निहोत्रं मिथुन पश्यत्। तदुदिते सूर्येऽजुहोत्' अर्थात् 'प्रजापति ने उत्पन्न होने की इच्छा की, उन्होंने अग्निहोत्र रूप मिथुन की ओर देखा और सूर्योदय होने पर उसमें होम किया।' वृहदारण्यक (१।४।१०) में कहा है कि 'देवताओं में से जिस-जिसने उस ब्रह्म को जाना, वह-वह ही ब्रह्म हो गया।' इससे सिद्ध है देवताओं को भी कर्म करने का अधिकार है। क्योंकि परमेश्वर की आज्ञा से वे भी लोक-संग्रह के लिए सभी कर्म करते हैं।

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थ—अस्य=इस जानश्रुति पौत्रायण नामक राजा का, शुक=शोक, (सयुग्वा रैक्व के शूद्र कहने से), सुच्यते=सूचित होता है, हि=क्योंकि, तदनादर श्रवणात्=उन हंसों के मुख से अपने प्रति अनादर (निंदा) की बात सुनकर ब्रह्मज्ञान प्राप्ति की इच्छा से रैक्व मुनि के पास गया था।

व्याख्या- इस सूत्र में एक कथा-प्रसङ्ग है कि जानश्रुति पौत्रायण नामक एक धर्मज्ञ और अन्नदानी राजा था। एक दिन हंस रूप में दो ऋषि कुमार परस्पर झगड़ते हुए जानश्रुति की निन्दा और रैक्व-मुनि की प्रशंसा करके उड़ते हुए निकल गए। राजा को इससे बड़ा दुःख हुआ और वह रैक्व का पता लगाकर सैकड़ों गाय और एक रथ भेंट लेकर रैक्व के पास गया। रैक्व शकट के नीचे बैठे थे, उन्होंने राजा से कहा—'अरे शूद्र ! मैं इस धन का क्या करूँगा ? तू ही रख।' तब दुखित जानश्रुति ने घर जाकर अपनी पुत्री साथ ली और रैक्व के पास जाकर उसका विवाह उसके साथ कर दिया। तब रैक्व ने उसे दिव्य ज्ञान दिया।

शूद्र कहने से जानश्रुति को इसलिए अधिक दुःख हुआ कि रैक्व ने उसे क्षत्रिय होते हुए भी शूद्र कहा। परन्तु, रैक्व का यह आशय नहीं था, 'शुचम् आद्रवति इति शूद्रः'—'जो शोक के पीछे दौड़े वह शूद्र।' इससे यहाँ शूद्र शब्द को किसी जाति विशेष का वाचक नहीं समझना चाहिए।

क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्।। ३५ ।।

सूत्रार्थ— क्षत्रियत्वावगतेः=वर्णन से जानश्रुति का क्षत्रिय होना जाना जाता है, च=तथा, उत्तरत्र=बाद में बताए हुए, चैत्ररथेन=चैत्ररथ के सम्बन्ध से (तथा), लिङ्गात्=क्षत्रियत्व सूचक लक्षण से भी, उसका क्षत्रिय होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—जानश्रुति को क्षत्रिय मानने के प्रसङ्ग में एक और कथांश है कि जानश्रुति को जब ब्रह्म-विद्या का उपदेश किया गया, उस समय अभिप्रतारि नामक चैत्ररथ क्षत्रिय से जानश्रुति को सङ्गति करने से जानश्रुति के क्षत्रिय होने का आभास मिलता है। रैक्व ने अपनी आख्यायिका में कहा था कि 'शौनक और अभिप्रतारि चैत्ररथ—इन दोनों के लिए भोजन परोसने के समय एक भिक्षुक ने भीख माँगी, इन दोनों के भिक्षा न देने पर उसने कहा कि 'यह अन्न जिसके लिए है उसे आपने

क्यों नहीं दिया ?' अन्त में उसे भिक्षा दी गई। साथ ही गाय, रथ, द्रव्य, कन्या आदि का दान और अन्नदान आदि कर्म भी क्षत्रिय के ही हैं। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि जानश्रुति शूद्र नहीं, क्षत्रिय ही था। क्योंकि शौनक ब्राह्मण थे, वे शूद्र के यहाँ भोजन कदापि नहीं करते।

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ—च=और, संस्कारपरामर्शात्=उपनयन संस्कार आदि के परामर्श से, तदभावाभिलापात्=शूद्र के लिए उन संस्कारों का होना भी (एक कारण कहा गया है)।

व्याख्या—शूद्र के उपनयन आदि संस्कार नहीं होते, इसलिए भी उसे वेदादि की विद्या में अधिकार नहीं है। क्योंकि ब्रह्म-विद्या में संस्कार का होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषद् (३।२।१०) में कहा है—'तेषांमेवेतां ब्रह्म विद्यां वदेत शिरोव्रत विधिवद् यैस्तु चीर्णम्' अर्थात् 'इस ब्रह्म-विद्या का उपदेश उन्हीं को देना चाहिए जिन्होंने संस्कार करा कर ब्रह्मचर्य्य व्रत का पालन किया हो।'

तदभाव निर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ—तदभाव निर्धारणे—शिष्य में शूद्रत्व का भाव न रहे, प्रवृत्तेः=आचार्यों की ऐसी प्रवृत्ति है, च=(इससे) भी शूद्र को वेदाधिकार न होने की बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—आचार्यों की इस प्रकार की इच्छा रहती है कि उनका शिष्य शूद्रत्व भाव का न हो। इसके लिए शिष्य बनाने से पहिले ही वे उसकी जन्म-जाति की पूरी जानकारी कर लेते हैं। छान्दोग्य में सत्य-काम जाबालि का कथा-प्रसंग मिलता है—'महर्षि गौतम के आश्रम में ब्रह्म-ज्ञान प्राप्ति की इच्छा से जाबालि ने प्रवेश किया और महर्षि से शिष्य बना लेने की प्रार्थना की। महर्षि ने उससे गोत्र पूछा तो वह नहीं बता सका, और अपनी माता से पूछ कर फिर उपस्थित हुआ। उसने

महर्षि से कहा कि 'मेरी माता गोत्र नहीं जानती, उसने इतना ही बताया है कि मेरा नाम जाबालि और तेरा नाम सत्यकाम है।' तब महर्षि ने विचार किया कि ऐसा सत्य भाषण तो ब्राह्मण ही कर सकता है, अन्य नहीं, इससे यह अवश्य ही ब्राह्मण है।' फिर महर्षि ने उसका संस्कार किया। इससे सिद्ध होता है कि शूद्रत्व में संस्कार नहीं हो सकता।

श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात् स्मृतेश्च ।। ३८ ।।

सूत्रार्थ—श्रवण=वेदादि सुनने, अध्ययनार्थ=पढ़ने के लिए भी, प्रतिषेधात्=निषेध होने से, च=तथा, स्मृतेः=स्मृति के प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—वेद का पढ़ना, सुनना, उसका अर्थ करना आदि से भी शूद्र को निषेध किया गया है। मनुस्मृति के अनुसार—'न शूद्राय मतिं दद्यात्' 'शूद्र को विद्या-ज्ञान न दें।' विदुर आदि को ज्ञान प्राप्ति की बात मिलती है, परन्तु वे शूद्र होकर भी सिद्ध बुद्धि वाले थे। शूद्राधिकरण समाप्त हुआ।

कम्पनात् ।। ३९ ।।

सूत्रार्थ—कम्पनात्=कम्पन से, क्योंकि सम्पूर्ण विश्व उस अंगुष्ठ मात्र कहे हुए ब्रह्म के भय से काँपता है।

व्याख्या—कठवल्ली में कहा है कि "निदमन करने वाले वज्र से सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है, उसी के भय से सब काँपते हैं, वह सबका रक्षक, दण्ड देने वाला और पालनकर्त्ता है, उसे जानने वाला मुक्ति को प्राप्त होता है।" फिर कहा है कि "अग्नि और सूर्य इसी के भय से तपते हैं, इसी के भय से इन्द्र, वायु और मृत्यु अपने-अपने कार्यों में दौड़ते हैं।" यहाँ वज्र भी ब्रह्मवाची है। जिसके शासन-भय से इन्द्रादि अपने-अपने कार्यों में लगे हैं, वह अंगुष्ठ-मात्र पुरुष ब्रह्म ही है।

ज्योतिर्दर्शनात् ।। ४० ।।

सूत्रार्थ—दर्शनात्=देखने से वह, ज्योतिः=ज्योति स्वरूप है।

व्याख्या—'न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारके' इत्यादि के अनुसार 'उस ब्रह्म के सामने सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि किसी का भी प्रकाश नहीं है।' अथवा 'अथ यदतःपरोदिवो ज्योतिर्दीप्यते' अर्थात् 'इस द्युलोक से परे जो परम ज्योति प्रकाशित है', वह ज्योति ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।। ४१ ।।

सूत्रार्थ—अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्=नाम रूपमय विश्व से भिन्न बताया जाने के कारण, आकाशः='आकाश' शब्द 'ब्रह्म' वाचक ही है।

व्याख्या—छान्दोग्य (८।१४।१) "आकाशो वै नाम रूप योर्निर्विहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा।" अर्थात् 'जो नाम और रूप का निर्वाह करने वाला आकाश है, वही ब्रह्म अमृत और आत्मा है।" इसमें नाम, रूप से अलग वस्तु को ब्रह्म और आकाश कहा गया है, इसलिए इस प्रकरण में 'आकाश' शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण समझना चाहिए। क्योंकि ब्रह्म, अमृत और आत्मा यह विशेषण जीवात्मा में संभव नहीं हैं। 'आकाश' शब्द व्यापकता गुण सहित होने से भी जीव के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।। ४२ ।।

सूत्रार्थ—सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः=सुषुप्ति तथा मरणकाल में भी, भेदेन=भेदपूर्वक जीवात्मा और ब्रह्म को कहा गया है।

व्याख्या—सुषुप्ति काल के सम्बन्ध में छान्दोग्य का कथन है कि जिस अवस्था में यह पुरुष सोता है उस समय यह सत् रूप अपने ही

कारण से संयुक्त होता है।' यहाँ पुरुष से 'ब्रह्म' का ही अभिप्राय है। अब जीव के सम्बन्ध में कहते हैं कि 'यह जीवात्मा इस देह से निकल कर परम ज्योति स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर अपने शुद्ध स्वरूप से युक्त होता है। इस प्रकार सुषुप्ति और मरण का भेद ब्रह्म और जीव का भेद स्पष्ट करता है। फिर कहा है—'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति, अर्थात् यह देहधारी जीवात्मा, सर्वज्ञात्मा की गोद में चढ़कर देह त्यागता हुआ प्रस्थान करता है। यहाँ भी सर्वज्ञ आत्मा 'ब्रह्म' के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थ—पत्यादिशब्देभ्यः=श्रुतियों में ब्रह्म को पति, अधिपति, परम पिता आदि शब्दों से सम्बोधित किया है, इससे भी जीवात्मा और ब्रह्म का भेद स्पष्ट है।

व्याख्या—ब्रह्म को जिन विभिन्न विशेषणों से कहा जाता है, वे विशेषण जीव के लिए संभव नहीं हैं। 'सर्वेश्वर एष सर्वभूताधिपतिः' ब्रह्म के निमित्त ही प्रयुक्त हो सकता है। जीवात्मा अपनी मुक्त दशा में भी सर्वेश्वर अथवा सब भूतों का अधिपति नहीं हो सकता। क्योंकि ब्रह्म ही जीवों के हृदय में निवास कर उनका शासन करता है, तैत्तिरीयक के यह वाक्य-समूह यहाँ ब्रह्म को ही सर्व सामर्थ्ययुक्त भाव में कहते हैं।

॥ तृतीयः पादः समाप्त ॥

———

चतुर्थः पादः

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त गृहीतेर्दर्शयति च ।। १ ।।

सूत्रार्थ—एकेषाम्=एक शाखा वालों के मत में, आनुमानिकम=अनुमान से कही हुई, कल्पित जड़ प्रकृति को, अपि=भी संसार की उत्पत्ति का कारण बताया गया है। इति न=इस प्रकार कहना ठीक नहीं है क्योंकि, शरीर रूपकविन्यस्त-गृहीतेः=शरीर कहने वाले रथ रूपक का विन्यास किये गए 'अव्यक्त' शब्द से ग्रहण होता है, च=और, दर्शयति=ऐसा ही देखा जाता है।

व्याख्या - यदि कहो कि कठ शाखा वाले विद्वानों ने जड़ प्रकृति को जगत् का कारण अनुमान किया है, परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ रथ के रूपक से प्रदर्शित शरीर का ही ग्रहण किया गया है। इस सम्बन्ध में यह श्रुति (कठ १।३।३।४) है—"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।। इन्द्रियाणि हयान्याहुर्विषयांस्तेषु गोचराम्। आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" अर्थात् 'आत्मा रथि (रथ पर सवार), शरीर रथ, बुद्धि सारथि, मन रस्सी, इन्द्रियाँ घोड़ों के स्वरूप वाली और शब्दादि विषय मार्ग स्वरूप हैं। इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा भोगने वाला है।' इस प्रकरण में शरीर को रथ कहा गया है, उसी का नाम 'अव्यक्त' है। प्रकरणवश अवशिष्ट शरीर को 'अव्यक्त' विशेष प्रकार से कह दिया है। इससे सांख्या-पदार्थों का संग्रह नहीं माना जा सकता। "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पद" के अनुसार इन रथादि को वश में रख कर विष्णु-पद प्राप्ति के अनुध्यान (ध्यान, उपासना आदि) करने वाला मनुष्य संसार सागर से पार हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ

कि यहाँ 'अव्यक्त' शब्द का प्रयोग शरीर के लिये करने पर भी उसका सूक्ष्म से ही बोध होता है। इसे अन्य सूत्र भी स्पष्ट करते हैं—

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—तु='अव्यक्त' शब्द से प्रकट शरीर का विधान तो, सूक्ष्मम्=बिना देह वाले भूत सूक्ष्म से विशेष अवस्था को प्राप्त होकर शरीर रूप हो जाते हैं, तदर्हत्वात्=क्योंकि वे उसके अधिकारी हैं।

व्याख्या—जीवात्मा के परमधाम जाने के समय व्यक्त (प्रकट) देह तो यहीं रह जाता है और अव्यक्त सूक्ष्म शरीर ही वहाँ जाता है। इसलिए सूक्ष्म शरीर का अव्यक्तत्व मानना उचित है। प्रलयकाल में इस दिखाई पड़ने वाले सम्पूर्ण विश्व के सूक्ष्म भाव ग्रहण करने की बात श्रुतियों ने कही है। इससे शरीर का सूक्ष्म भाव से अव्यक्त (प्रकट न होना) सिद्ध है।

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—तद्धीनत्वात्=उस परम कारणभूत ब्रह्म के अधीन होने से, अर्थवत्=प्रकृति का ग्रहण भी इस अर्थ में ठीक है।

व्याख्या—सांख्य मत वालों के अनुसार प्रकृति स्वतन्त्र और जगत् का कारण कही गई है। परन्तु, श्रुतियाँ ऐसा नहीं कहतीं। वे तो ब्रह्म को ही सम्पूर्ण जगत् का कारण मानती हैं और प्रकृति को ब्रह्म के ही अधीन माना गया है। ब्रह्म के अधीन रह कर सृष्टि आदि कार्यों को करने में ही उसकी सार्थकता है। श्वेताश्वतर के अनुसार 'महर्षियों ने ध्यान में अवस्थित होकर परमेश्वर की सगुणात्मिका शक्ति का साक्षात्कार किया।' यहाँ परमेश्वर की शक्ति के नाम से ही 'प्रकृति' का वर्णन किया

गया है। इस प्रकार 'प्रकृति' को स्वतन्त्र सत्ता के रूप में नहीं माना जा सकता।

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—ज्ञेयत्व—'अव्यक्त' अवश्य ही जानने योग्य है ऐसा, अवचनात्—श्रुति में वचन न होने से, च—भी ब्रह्म को ही ज्ञेय मानना चाहिए।

व्याख्या—सांख्य मत वाले प्रकृति को जानने योग्य कहते हैं। 'गुणपुरुषान्तरज्ञानात् कैवल्यम्' अर्थात् 'गुण संयुक्ता प्रकृति और पुरुष की भिन्नता जान लेने से मोक्ष-प्राप्ति होती है।' इसके अनुसार प्रकृति और पुरुष की भिन्नता जानने के लिए पहिले प्रकृति को जानना होगा। परन्तु श्रुति उसे जानने या उपासना करने योग्य नहीं कहती। श्वेताश्वतर श्रुति ने 'प्रकृति को माया और उसके अधिपति परमेश्वर को 'मायी' कहा है। वह मायी पुरुष अपनी माया के द्वारा ही विश्व की सृष्टि करता है।' इससे सिद्ध हुआ कि सांख्य मत में कहे हुए 'प्रधान' शब्द को ज्ञेय कहना ठीक नहीं, केवल 'ब्रह्म' ही ज्ञेय है।

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—चेत—यदि कहो कि, वदति—(श्रुति प्रकृति को भी) ज्ञेय कहती है तो, इति न—यह कहना ठीक नहीं है, हि—क्योंकि, प्राज्ञः—ब्रह्म ही जानने योग्य है, प्रकरणात्—प्रकरण से ऐसा ही बोध होता है।

व्याख्या—अव्यय की चर्चा में कठोपनिषद् (१।३।१५) में कहा है कि "शब्द से परे, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से भी परे, नित्य, जिसका आदि-अन्त नहीं, महत् से भी परे और अटल तत्व को जानने से जीव अमर हो जाता है।" इस प्रकार ब्रह्म का ही ज्ञेयत्व सिद्ध होता है। क्योंकि 'प्राज्ञ' शब्द इस प्रकरण में ब्रह्मवाची ही है। 'पुरुषान्न परं

...त् सा काष्ठा सा परागतिः। एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ात्मा न प्रकाशत्' अर्थात् 'पुरुष से श्रेष्ठ कोई नहीं, वही परमगति है, वह सभी भूतों में गुप्त भाव से रह कर अपना स्वरूप प्रकाशित नहीं करता।' इसमें 'प्राज्ञ' ही पुरुष है और 'प्राज्ञ' शब्द ब्रह्म के लिए ही कहा गया है।

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—त्रयाणाम्—तीन का, एव—ही, एवम्—इस प्रकार ज्ञेयत्व, उपन्यास—कहा गया है, च—तथा, प्रश्नः—ऐसा ही प्रश्न है।

व्याख्या—मृत्यु और नचिकेता के सम्वाद में अग्नि, जीवात्मा और परमात्मा इन तीन के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर हैं। परमात्मा से सम्बन्धित प्रश्न में 'अशब्दमस्पर्शम्' का उल्लेख कर उसे शब्द से परे और स्पर्श से परे कहा है। उसमें कहीं भी प्रधान या प्रकृति से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि उसमें उक्त तीनों के अतिरिक्त किसी का भी वर्णन नहीं है।

महद्वच्च ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—च=और, महद्वत्='महत्' शब्द के समान ही इसको भी अन्यार्थ-वाची मानना उचित है।

व्याख्या—सांख्य शास्त्र के अनुसार 'महत् शब्द को महत्तत्व का वाचक माना गया है परन्तु, कठोपनिषद् (१।२।२२) के अनुसार 'महत्' शब्द 'महत्तत्व' का वाचक नहीं है जैसे 'महान्तं विभुमात्मानं' यहाँ 'महत्' शब्द आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'बुद्धेरात्मा महान् परः' बुद्धि से महान् आत्मा परे है। यहाँ आत्मा को बुद्धि से परे कहा है, परन्तु सांख्यवादी महत्तत्व को बुद्धिवाची ही मानते हैं। इस प्रकार 'अव्यक्त' शब्द का अर्थ सांख्य मत वालों से भिन्न मानना ही उचित है।

चमसवदविशेषात् ।। ८ ।।

सूत्रार्थ—अविशेषात्=किसी प्रकार की विशेषता न बताने से, चमसवत्=चमस के समान (दूसरे अर्थ का आभास भी हो सकता है) ।

व्याख्या—श्वेताश्वतर (४।५) में 'अजा' शब्द को प्रकृति-वाची माना है। परन्तु वह सांख्य मत वाली प्रकृति है, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। यहाँ 'अजा' शब्द 'स्वरूपभूता बहु पुरुष सृष्टिकारिणी' शब्द का विशेषण होने से प्रकृति का ही बोध होता हो, ऐसा नहीं है। श्रुतियों में 'अजा' नाम से जिस प्रकृति का वर्णन किया गया है, वह परमेश्वर की अधीनस्थ अचिन्त्य शक्ति है। जैसे बृह० (२।२।३) में चमस का लक्षण 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबध्नः' लिखा है। अर्थात् 'जिसमें नीचे गड्ढा और ऊपर हत्थी हो।' यह चमस सोमपान के निमित्त पात्र विशेष का वाचक होने पर भी 'शिर' के अर्थ में लिखा गया है। वैसे ही 'अजा' शब्द से सांख्य मत में कही गई प्रकृति का ग्रहण नहीं होता।

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ।। ९ ।।

सूत्रार्थ—तु=अवश्य ही, ज्योतिरुपक्रमा=अजा ज्योतिर्मयी ब्रह्मकारणिका अर्थात् ब्रह्म से प्रकट है, तथाहि=ऐसे ही, एके=एक शाखा वाले, अधीयते=कहते हैं।

व्याख्या—वेदों में वर्णन की गई 'अजा' भी ब्रह्म से ही प्रकट हुई है। स्वतन्त्र रूप से उसे नहीं कहा गया है। 'ज्योतिः' शब्द से भी यही ठीक है क्योंकि उसका प्रकाशक ब्रह्म ही है। ज्योतिः शब्द से उपक्रम होने से 'अजा' शब्द को ब्रह्मशक्ति ही कहना उचित है। 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्म शक्तिं स्वगुणैर्निगूढां' अर्थात् 'हे प्रभो ! तुम्हारे ध्यान-योग में लगा हुआ व्यक्ति तुम्हारी अप्रकट शक्ति को देखता है।' इस प्रकार प्रकृति को ईश्वर की शक्ति ही बताया है। श्रीमद्भगवद्गीता के

अनुसार 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' अर्थात् 'त्रिगुणात्मक ब्रह्म मुझसे उत्पन्न है।' इससे स्पष्ट ही प्रकृति का ब्रह्माश्रिता होना सिद्ध होता है।

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—कल्पनोपदेशात्='अजा' के रूपक से कल्पना पूर्वक उपदेश किये जाने से, च=भी, मध्वादिवत्=मधु आदि के कल्पित उपदेश के समान, अविरोधः=कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—सूर्य में मधु की कल्पना, वाणी में धेनु की कल्पना, और अग्नि रूप में द्युलोक आदि की कल्पना के समान ही 'अजा' नाम से शक्तिभूता प्रकृति का रूपक वर्णन करने में कोई विरोध नहीं है क्योंकि अजा का अर्थ अजन्मा भी है, प्रकृति का कारण ब्रह्म होने से उसे अजन्मा कहा जाय, तो भी अनुचित नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि 'अजा' नाम से प्रकृति का वर्णन हुआ है, वह ब्रह्म की ही आश्रिता है, उसका स्वतन्त्र होना सिद्ध नहीं होता।

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—नानाभावात्=अनेक होने से, च=और, अतिरेकात्=अधिकता से वर्णन होने से, संख्योपसंग्रहात्=संख्या का ग्रहण होने से, अपि=भी, न=सांख्य मत वालों की गणना ठीक नहीं है।

व्याख्या—बृह० (४।४।१७) "यस्मिन् पञ्चपञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः, तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्" अर्थात् 'जिसमें पांच पञ्चजन और आकाश भी प्रतिष्ठित है, उस आत्मा को मैं विद्वान् अमृत स्वरूप ब्रह्म मानता हूं।' सांख्य मत वाले 'पञ्च पञ्चजन' का अर्थ पांच का पांच के साथ गुणा करके पच्चीस और जन से तत्व का ग्रहण करते हैं। परन्तु ५×५ से पच्चीस मानें तो भी आकाश और आत्मा सहित सत्ताईस तत्व हो जाते हैं। सांख्य के पच्चीस तत्वों में मूल प्रकृति

महत्तत्व, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियाँ, पंचभूत और पुरुष कहे गए हैं, परन्तु पञ्च संख्या के विशेषण से जो पञ्चजन यहाँ कहे हैं, वे संख्या में कहे गये तत्वों से भिन्न हैं। फिर पञ्चजन कहाने वाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और आकाश आदि भूत जिस ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं, 'वही आत्मा और ब्रह्म है' तो ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं हुआ।

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—प्राणादयः = प्राण और इन्द्रियाँ, वाक्यशेषात् = आगे के मन्त्र में कहे गए वाक्य से (यह प्रतीत होता है कि पंचजन प्राणादिक को कहा गया है)।

व्याख्या—वृहदारण्यकोपनिषद् के पीछे कहे गए मन्त्र के पश्चात् (४।४।१८) में कहा है कि 'जो उस प्राण के प्राण, चक्षु के चक्षु, श्रोत्र के श्रोत्र तथा मन के मन को जानते हैं, वे विद्वान् उस आदि पुराण-पुरुष ब्रह्म को भी जानते हैं।' इसी प्रकार माध्यन्दिनीय शाखा (४।४।२१) में वर्णन है। परन्तु, उसमें मन से पहले अन्न (अर्थात् पार्थिव इन्द्रियों) का भी उल्लेख है। इस सबसे तात्पर्य यह है कि प्राणादि से यहाँ ब्रह्म की शक्ति का ही वर्णन किया गया है।

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—एकेषाम् = एक शाखा वालों के यहाँ, अन्ने = अन्न का वर्णन, असति = न होने पर, ज्योतिषा = ज्योति के द्वारा संख्या पूरी की जा सकती है।

व्याख्या—काण्व शाखा वालों ने उसमें अन्न (अर्थात् पार्थिव इन्द्रियों) का उल्लेख नहीं किया है, यह बात ऊपर के सूत्र में कही जा चुकी है। यदि उसमें 'अन्न' शब्द न भी रहे तो 'ज्योतिः' शब्द से पाँच की संख्या पूरी हो जाती है। 'वे सभी देवता 'ज्योतिः' पदार्थ के प्रकाशक ब्रह्म की उपासना करते हैं।' इस प्रकार 'ज्योतिः' शब्द के प्रकाशक

के रूप में यहाँ ब्रह्म का कथन है और 'ज्योतिषाँ ज्योतिः से इन्द्रियों का ग्रहण होता है।

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ।। १४ ।।

सूत्रार्थ—च = और, आकाशादिषु=आकाश आदि में, कारणत्वेन=कारण रूप से, यथाव्यपदिष्टोक्तेः=ब्रह्म का एक जैसा ही वर्णन हुआ है।

व्याख्या—कार्यरूप जगत् की रचना का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार से करने पर भी कर्त्ता सभी ने ब्रह्म को ही बताया है। तैत्त० (१।१) 'तस्माद्वाएतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' के अनुसार यहाँ सृष्टि के आदि में आकाश का होना कहा है, 'तत्तेजोऽसृजत' से तेज गुण वाली सृष्टि का वर्णन हुआ है और 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' से प्राण आदि से युक्त सृष्टि बताई गई है, इस प्रकार के अन्य वर्णन भी हैं। इससे ब्रह्म के सम्बन्ध में कोई भेद सिद्ध नहीं होता। सृष्टि का विभिन्न प्रकार वर्णन होने पर भी ब्रह्म एक ही है। "अनेन जीवेनात्मनानु प्रविश्य नाम रूपे व्याकरणवाणी" अर्थात् 'मैं जीव रूप से विश्व में अनुप्रवेश द्वारा नाम, रूप का प्रकाश करता हूँ।' इसलिए जगत् का कारण एक मात्र 'ब्रह्म' ही है।

समाकर्षात् ।। १५ ।।

सूत्रार्थ—समाकर्षात्=अच्छे प्रकार खींचने या मंथन करने से भी 'ब्रह्म' जगत् का कारण सिद्ध होता है।

व्याख्या—तैत्तरीयोपषिद् के प्रथम अनुवाक में ब्रह्म का लक्षण कहते हुए उसे सत्य, ज्ञान और अनन्त कहकर, आकाशादि के क्रमपूर्वक ब्रह्म से ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति कही है। फिर छठवें अनुवाक में 'सोऽकामयत' कहकर 'स' पद से उसी ब्रह्म का आकर्षण किया है और अन्त में कहा है कि 'यह जो कुछ है, वह सत्य स्वरूप ब्रह्म है।' उसके

बाद 'असद्वा इदमग्र आसीत' अर्थात् 'सृष्टि रचना से पहिले यह जगत् 'असत्' अर्थात् अव्यक्त नाम रूप वाला ब्रह्म ही था। इससे सिद्ध हुआ कि 'असत्' शब्द अप्रकट ब्रह्म के लिये और 'सत्' शब्द जगत् रूप 'प्रकट ब्रह्म' के लिए कहा गया है। छान्दोग्य में भी ,आदित्यो ब्रह्म, कहकर उसे 'असत्' ही कहा है। इसी मन्त्र में 'तत्सदासीत्' शब्द से ब्रह्म को 'सत्' कहा है। इससे सिद्ध होता है कि 'सत्' और 'असत्' दोनों शब्द ब्रह्मवाची हैं और वही इस विश्व का परम कारण है।

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—जगद्वाचित्वात्=जगत का वाची होने से ब्रह्म ही जगत् का रचयिता है, प्रकृति नहीं।

व्याख्या—कौषीतकि ब्राह्मण में राजा अजातशत्रु और बालाकि नामक ब्राह्मण के सम्वाद का प्रसंग है। उसमें बालाकि ने आदित्य आदि सोलह पुरुषों को ब्रह्म बताया। परन्तु राजा ने उसके मत का खण्डन कर कहा कि 'हे बालाके ! तू ब्रह्म को नहीं जानता। तूने जिन सोलह पुरुषों का वर्णन किया है, उनका जो कर्त्ता और जिसके यह कर्म हैं, वही जानने योग्य है।' इस प्रकार पुरुष रूप से कहे गए जीवात्मा और रहने का स्थान शरीर, यह सब उस ब्रह्म के ही कर्म हैं। इसलिए कर्म यहाँ सम्पूर्ण जगत् के लिए कहा गया है, कारण तो वही एक मात्र ब्रह्म है।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद् व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—चेत् इति=यदि ऐसा कहो कि, जीवमुख्यप्राणलिंगात्=जीव और मुख्य प्राण का बोध कराने वाले लक्षण भी उस प्रसंग में मिलते हैं, इसलिये, न=ब्रह्म वहाँ जानने योग्य नहीं है, तद्व्याख्यातम्=तो इसका समाधान पहिले कर चुके हैं।

व्याख्या—जीव और मुख्य प्राण के लक्षणों का स्पष्ट वर्णन होने से प्राण आदि का अधिष्ठाता जीव ही जगत् का कर्त्ता और जानने योग्य

है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस शङ्का का समाधान पहिले ही (१।१।३१ सूत्र में) कर चुके हैं कि सम्पूर्ण धर्मों का आश्रय स्थान ब्रह्म है, इसलिए जीव और प्राण से उसके लक्षणों की संगति नहीं हो सकती।

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—जैमिनिः=आचार्य जैमिनि, तु=तो, अन्यार्थम्=जीव और प्राण का वर्णन होना दूसरे ही प्रयोजन से मानते हैं, प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्=क्योंकि प्रश्न और विवेचन से ऐसा ही जान पड़ता है, च=और, एके=एक शाखा वाले, एवम्=इस प्रकार, अपि=कहते भी हैं।

व्याख्या—आचार्य जैमिनि इस प्रकरण में जीव और मुख्य प्राण को जगत् का कारण सिद्ध करने वाला नहीं बताते। वे इस वर्णन का दूसरा ही प्रयोजन बताते हैं कि जीव और मुख्य प्राण का ब्रह्म में लय होना कहकर जगत् का कारण ब्रह्म को ही सिद्ध करना है क्योंकि सुषुप्तावस्था में सभी का ब्रह्म में विलीन होना और सृष्टि काल में फिर उसी ब्रह्म से प्रकट होना, ब्रह्म को ही जगत् का कारण सिद्ध करता है। काण्व शाखा वालों ने वृहदारण्यक (२।१।१७) में इसे स्पष्ट कर दिया है। वहाँ अजातशत्रु कहता है कि 'यह विज्ञानमय पुरुष (जीव) जब सोता था, तब बुद्धि सहित सब प्राणों के सहित, उस आकाश में जाकर सोया, जो हृदय में है, उस समय इसे 'स्वपिति' कहते हैं। यहाँ आकाश शब्द ब्रह्मवाची है।

वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—वाक्यान्वयात्=वाक्य का विश्लेषण करने से सिद्ध होता है कि जीव और मुख्य प्राण के लक्षण दूसरे ही प्रयोजन से कहे गए हैं।

व्याख्या—वृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मोपदेश देते हुए कहा कि 'सबके कार्य के लिए, सब प्रिय नहीं होते, परन्तु आत्मा के लिये सभी प्रिय होते हैं। इसलिए उसी आत्मा का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करे।' यहाँ 'आत्म' शब्द ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अथवा जीवात्मा के अर्थ में? इस शङ्का का समाधान यह है कि पहले कहे हुए की संगति और विश्लेषण से यहाँ सभी शब्दों का समन्वय ब्रह्म में होता है, जीव और मुख्य प्राण में नहीं।

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमित्याश्मरथ्यः ॥ २०॥

सूत्रार्थ—लिंगम्=जीव और मुख्य प्राण के लक्षणों का समन्वय ब्रह्म को जगत् का कारण सिद्ध करने के लिए हुआ है, प्रतिज्ञासिद्धे=क्योंकि इसकी सिद्धि से ही निश्चित मत बनता है, इति=ऐसा, आश्मरथ्य=आचार्य आश्मरथ्य कहते हैं।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद् (२।१) 'यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुर्लिंगाः वहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः, तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यान्ति।' अर्थात्—'जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि से अग्नि के समान स्वरूप वाली चिंगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही अक्षर ब्रह्म से विभिन्न भाव उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाते हैं।' इससे जगत् का कारण ब्रह्म ही सिद्ध होता है। 'आत्म विज्ञान' से 'सर्व विज्ञान' की सिद्धि आत्म-तत्व का परमात्म-तत्व में सिद्ध होने का ही लक्षण है। मैत्रेयी जब मोक्ष का उपाय जानना चाहती है, तब क्या ऋषि ने उसे जीव का उपदेश किया होगा? जीव के उपदेश से मुक्ति नहीं मिल सकती, वह तो ब्रह्मज्ञान से ही सम्भव है। इसलिए आश्मरथ्य आचार्य भी 'ब्रह्म' को ही जगत् का कारण बताते हैं।

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—उत्क्रमिष्यतः=देह त्याग कर जाने वाले ब्रह्मज्ञानी का, एवं= इस प्रकार, भावात्=परमात्म भाव होने से

जीव का ब्रह्म में अभिधान किया है, इति औडुलोमि=ऐसा आचार्य औडुलोमि मानते हैं।

व्याख्या—ब्रह्मज्ञानी पुरुष जब अपना देह त्याग कर परमधाम को जाता है और वहां परमात्मा स्वरूप हो जाता है, उसे स्थिति में 'जीव' वाची शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण होता है, ऐसा औडुलोमिः का मत है। मुण्डकोपनिषद् (३।२।७,८) में देह त्याग कर ब्रह्मलोक को प्रस्थान करने वाले ब्रह्मज्ञानी के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है कि 'जब ब्रह्मज्ञानी शरीर छोड़ता हैं, तब पन्द्रह कलाऐं और सभी देवता अपने-अपने रचयिता देवताओं में अवस्थित हो जाते हैं। फिर सब कर्म और विज्ञानमय आत्मा सभी ब्रह्म में एक होते हैं। जैसे बहती हुई नदियाँ अपने नाम और रूप का त्याग कर समुद्र में मिल जाती हैं, वैसे ही ब्रह्मज्ञानी पुरुष अपने नाम रूप को छोड़कर उस परम पुरुष एवं दिव्य ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।' इससे जीव का ब्रह्म में अवस्थान करना सिद्ध होता है।

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—अवस्थितेः=प्रलय काल में सम्पूण जगत् उस ब्रह्म में अवस्थान करता है, इति=इस प्रकार, काशकृत्स्नः=आचार्य काशकृत्स्न कहते हैं।

व्याख्या—आचार्य काशकृत्स्न भी प्रलय-काल में सम्पूर्ण विश्व में ब्रह्म में अवस्थान करने की बात कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म ही इस जगत् का परम कारण है और अन्त में यह सृष्टि—जीव और प्राण—सभी उस ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—प्रकृति=उपादान कारण, च=और निमित्त कारण ब्रह्म ही है, प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्=यह मानने से श्रुति

प्रतिपादित 'प्रतिज्ञा' और 'दृष्टान्त' के अनुरोध से 'ब्रह्म' ही उपादान और निमित्त कारण सिद्ध होता है।

व्याख्या—छान्दोग्य में श्वेतकेतु का उपाख्यान है। उसमें उसके पिता ने पूछा—'उस तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्। अर्थात् 'क्या तुमने उस उपदेश को सुना है, जिसके सुनने से, अनसूना हुआ हो जाता है, न सोचा हुआ सोचा हुआ हो जाता है और न जाना हुआ जाना हुआ हो जाता है ?' तब श्वेतकेतु ने उस उपदेश के सम्बन्ध में अपने पिता से प्रश्न किया। तब पिता ने कहा—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्' अर्थात् 'जैसे मिट्टी के ढेले का तत्त्व जान लेने पर मिट्टी की सब वस्तुओं के मिट्टी होने का ज्ञान हो जाता है।' ऐसे ही स्वर्ण के ज्ञान से स्वर्ण निर्मित कुण्डलादि का और लोहे के ज्ञान से लोहे की बनी हुई वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है—ऐसा दृष्टान्त दिया है। यहाँ पिता का प्रश्न प्रतिज्ञा वाक्य है और मिट्टी आदि का उदाहरण दृष्टान्त वाक्य है। यदि जड़ प्रकृति को उपादान कारण मान लें तो, मिट्टी आदि के एक अंश के जानने से जड़ प्रकृति का ही ज्ञान होगा, ब्रह्म का नहीं। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म को जगत् का कारण मानना ही ठीक है।

अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—अभिध्योपदेशात्=सृष्टि रचना का सङ्कल्पपूर्वक उपदेश होने से, च=भी जगत का उपादान और निमित्त कारण ब्रह्म ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—श्रुतियों में सृष्टि-रचना के संकल्प का अनेक स्थलों पर वर्णन मिलता है। छान्दोग्य (६।२।३) 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' अर्थात् 'उसने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ' अथवा तैत्त० (२।६) 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' अर्थात्—'उसने संकल्प किया कि मैं बहुत

हो जाऊँ।' इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जगत् का उपादान और निमित्त कारण ब्रह्म ही है।

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—साक्षात्=श्रुति के अपने वचनों द्वारा, च=भी, उभयाम्नानात्=ब्रह्म को उपादान और निमित्त दोनों कारण कहे हैं।

व्याख्या—श्रुति ने स्वयं ही ब्रह्म को उपादान और निमित्त कारण कहा है। श्रुति स्वयं ही प्रश्न करती है कि "उस नियंता ब्रह्म का क्या उपादान और क्या उपकरण था जिससे उसने पृथिवी और आकाश की रचना की? हे विज्ञजन! इसे मन से विचारो कि इन भुवनों का धारण कर कौन अधिष्ठाता बना?" फिर श्रुति ने स्वयं ही उत्तर दिया है—ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्।" अर्थात् 'हे विज्ञजन! मैं विचार करके ही कह रहा हूँ कि ब्रह्म ही उपादान कारण और ब्रह्म ही निमित्त कारण है, वही ब्रह्म सब लोकों को धारण कर उन सबका अधिष्ठाता बना हुआ है।' इस प्रकार की अन्य श्रुतियाँ भी मिलती हैं, उन सबका कहना यही है कि ब्रह्म ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण है।

आत्मकृतेः ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—आत्मकृतेः=अपने को स्वयं द्वारा निर्मित कहने के कारण यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म को किसी ने उत्पन्न नहीं किया, वह सब का कारण है।

व्याख्या—तैत्तरीयोपनिषद् (२।७) 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' के अनुसार 'उस परब्रह्म ने स्वयं अपने को ही प्रकट किया।' इस प्रकार

कर्त्ता भी ब्रह्म और कर्म भी ब्रह्म है। इससे उपादान और निमित्त दोनों कारण ब्रह्म ही है।

परिणामात् ।। २७ ।।

सूत्रार्थ—परिणामात्=परिणाम के द्वारा भी ब्रह्म का उपादान और निमित्त कारण होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—श्रुति वाक्य है कि 'जो एक और वर्ण-रहित होकर भी अपने संकल्प और शक्ति के द्वारा बहुत वर्णों की सृष्टि उत्पन्न करता है।' इससे दोनों रूपों का प्रतिपादन सिद्ध होता है। तैत्तरीयोपनिषद् (२।६) के अनुसार—'उस विश्व-रचना के बाद वह ब्रह्म स्वयं उसमें प्रविष्ट हुआ और तब स्वयं ही सत् (प्रकट) और त्यत् (अप्रकट) हो गया। कहने में आने और न आने वाले, आश्रय देने और न देने वाले, चेतन, जड़, सत्य और असत्य इन सबके रूप में सत्य-स्वरूप ब्रह्म ही हो गया। दिखाई पड़ने वाला और अनुभव में आने वाला वह सब सत्य ही है। इस प्रकार श्रुति-वाक्य-समूह परब्रह्म के ही द्वारा सर्व रूप होने का वर्णन करते हैं।

योनिश्च हि गीयते ।। २८ ।।

सूत्रार्थ—च=और, योनिः=योनि, हि=ही, गीयते='ब्रह्म' को कहा गया है।

व्याख्या—योनि का अर्थ निमित्त कारण है। व्यासजी ने 'शास्त्र योनित्वात्' कहकर 'ब्रह्म को शास्त्र का उत्पत्तिकर्त्ता' बताया है। मुण्डकोपनिषद् में "यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा: कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्'; अर्थात्—'जो सब प्राणियों का उपादान कारण है, उस पुरुष एवं ब्रह्म-योनि को ज्ञानीजन परिपूर्ण देखते हैं।' यहाँ ब्रह्म को ही कर्त्ता और योनि रूप से कहा है। जिसके अंशों से जिसमें कार्य हो वह 'उपादान' और जो उपादान देह को कार्य रूप में बदले वह 'निमित्त'

कहा जाता है । परन्तु ब्रह्म ने स्वयं ही अपने देह को जगत् के रूप में परिणत किया, इसलिये उपादान और निमित्त दोनों ही ब्रह्म सिद्ध हुआ ।

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ।। २६ ।।

सूत्रार्थ—एतेन = इस प्रकार विवेचन करने से, सर्वे = सभी प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों से, व्याख्याताः = प्रतिपादन कर दिया तथा व्याख्याताः = उत्तर दे दिया ।

व्याख्या—उक्त प्रकरण को ठीक प्रकार समझा कर कहा जा चुका । 'व्याख्याताः' शब्द को दो बार कहने से तात्पर्य है कि अब अधिक समझाने की आवश्यकता नहीं रही । श्रुति में कहा है कि "नामानि विश्वानि न सन्ति लोके यदाविरासीत् पुरुषस्य सर्वम् । नामानि सर्वाणि यमा विशन्ति तं वै विष्णुं परममुदाहरन्ती" अर्थात्—'विश्व का नामादि कुछ नहीं था, वह सब उसी से प्रकट हुआ है, सभी नाम जिसमें समा जाते हैं, वह परम पुरुष विष्णु कहा जाता है ।' इस प्रकार सिद्ध हो चुका कि सम्पूर्ण विश्व का उपादान और निमित्त कारण ब्रह्म ही है, उसके सिवा अन्य नहीं है ।

।। चतुर्थः पादः सम्पूर्ण ।।

।। प्रथमोऽध्यायः सम्पूर्णः ।।

द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाश-दोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—चेत् इति=यदि ऐसा कहो कि, स्मृत्यनवकाश-दोषप्रसंगः=जड़ प्रकृति को जगत् का कारण न मानने से सांख्य-स्मृति को न मानने का दोष प्रसंग आवेगा, न=तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि, अन्यस्मृत्यनवकाशदोष प्रसंगात्=यदि उसके मत को मान लें तो अन्य स्मृतियों को न मानने का दोष उपस्थित होगा।

व्याख्या—इस प्रकरण पर विचार करने से पहिले सांख्य-स्मृति को समझ लेना उचित है। कपिल नामक एक ऋषि हुए, उन्होने वेदोक्त कर्म-काण्डों को ज्यों का त्यों स्वीकार किया और ज्ञान-काण्ड के विवेचन में 'सांख्य-स्मृति' की उन्होंने रचना की। उसमें मोक्ष की कामना वाले मनुष्यों के उपकार के लिये उपाय बताये गए। "विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य" और "अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य" कहकर उसमें अचेतन प्रधान अर्थात् जड़ प्रकृति को ही स्वतन्त्र रूप से जगत् का कारण कहा। ब्रह्म को जगत का कारण न कहने के कारण उसे प्रमाण मानना उचित नहीं है। अन्य सभी स्मृतियों ने जगत् का परम कारण ब्रह्म को ही कहा है, इसलिये वेदोक्त मत का सम्पादन करने वाली स्मृतियाँ ही मान्य हैं।

इतिरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—च=और, इतिरेषां=अन्य स्मृतियाँ प्रधान को कारण नहीं मानतीं, अनुपलब्धेः=इसलिये भी सांख्य-स्मृति का मत मानने योग्य नहीं है।

व्याख्या—सांख्य-स्मृति के अनुसार 'पुरुष और जीवात्माएं विभु एवं चिन्मात्र हैं,' 'उनका बन्ध और मोक्ष प्रकृति ही करती है।' 'बन्ध और मोक्ष दोनों ही प्राकृत हैं।' 'सर्वेश्वर रूप से कोई विशिष्ट पुरुष नहीं है।' इत्यादि वेद विरुद्ध बातें होने के कारण सांख्य स्मृति मान्यता के योग्य नहीं है।

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—एतेन=इस प्रकार जड़ प्रकृति का खण्डन होने से, योगः=योग शास्त्र की भी जो बातें वेद विरुद्ध हैं उनका भी, प्रत्युक्तः=खण्डन कर दिया गया।

व्याख्या—पातञ्जलि ऋषि ने योगशास्त्र की रचना की, उसमें उन्होंने दृश्य अर्थात् दिखाई पड़ने वाली जड़ प्रकृति को जगत् का स्वतन्त्र कारण बताया है। इसलिए योग का सांख्य से मतभेद होने पर भी, जड़ प्रकृति को जगत् का कारण मानने के कारण योग-शास्त्र भी वेद के विरुद्ध है। यद्यपि उसमें ब्रह्म को स्वीकार अवश्य किया है, परन्तु उस स्वीकारोक्ति में शङ्का अधिक होती है।

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—अस्य=इस जगत् का, विलक्षणत्वात्=ब्रह्म से विलक्षण होने से, न=ब्रह्म-कारण नहीं है, च=और, तथात्वम्=उसका इस प्रकार होना, शब्दात्=वेद से जाना जाता है।

व्याख्या यह विश्व ब्रह्म से विलक्षण (भिन्न रूप वाला) होने से ब्रह्म रूप होना अथवा ब्रह्म का उत्पादक होना सिद्ध नहीं है।

क्योंकि जगत् के लक्षण ब्रह्म के समान नहीं है। ब्रह्म चेतन है, जगत् जड़ है. ब्रह्म मुक्त है, जगत् बद्ध है, ब्रह्म शुद्ध है परन्तु जगत् शुद्ध नहीं है। इस प्रकार वेद द्वारा जाना गया ब्रह्म ही सब का कारण मानना चाहिए।

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—तु=वहाँ तो, अभिमानिव्यपदेशः=तत्त्वाभिमानी देवताओं का वर्णन है, विशेषानुगतिभ्याम्=यह बात विशेष विवरण से सिद्ध है।

व्याख्या—छान्दोग्य के अनुसार 'तत् तेज ऐक्षत बहु स्याम्' अर्थात् 'तेज ने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ' तब उसने जल को रचा, जल ने भूमि को रचा। इस प्रकार तत्त्वों के अभिमानी देवताओं का वर्णन हुआ और 'अग्नि वाणी बन कर मुख में गया' इस प्रकार उनकी अनुगति का वर्णन किया गया है।

दृश्यते तु ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—तु=तो, दृश्यते=कारण से कार्य की विलक्षणता भी देखी जाती है।

व्याख्या—यह कहना ठीक है कि उपादान से उत्पन्न होने वाला कार्य, उससे विलक्षण होता देखा गया है। मनुष्यादि चेतन जीवों से नख लोम आदि जड़ वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार चेतन से जड़ की उत्पत्ति में विलक्षणता है। मक्खी आदि से कृमि आदि का उत्पन्न होना भी एक विलक्षणता ही है।

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, असत्=सत्ता रहित, न दिखाई पड़ने वाली वस्तु की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आएगा तो,

इति न=ऐसा नहीं है, प्रतिषेधमात्रत्वात्=क्योंकि वहाँ असत् शब्द का बोध प्रतिषेध मात्र ही है।

व्याख्या—यदि यह कहा जाय कि अवयवहीन चेतन ब्रह्म से अवयव वाले जड़ प्राणी की उत्पत्ति मानने से पहले से न होने वाली वस्तु के मानने का दोष उपस्थित होगा। परन्तु, यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'दृश्यते तु' सूत्र में कार्य और कारण की समानता का निषेध मिलने पर भी 'कारणभूत ब्रह्म अपने से विलक्षण जगत् के रूप में प्रकट होता है' इस बात का निषेध नहीं किया है।

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ=अपीतौ=उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में, तद्वत्=दोष युक्त कार्य के उचित मानने का, प्रसंगात्=प्रसंग उपस्थित होगा इसलिए, असमंजसम्=उपरोक्त मान्यता की संगति नहीं बैठती।

व्याख्या—यदि कार्य और कारण को समान मानलें तो उत्पत्ति स्थिति और प्रलय-काल दोषयुक्त कार्य कारण में रहने से, ब्रह्म में भी वे दोष आ जायेंगे और तब ब्रह्म को सत्य सङ्कल्प आदि गुण वाला और दोष रहित कहने वाली श्रुतियों को मिथ्यात्व का दोष लगेगा। इसलिए श्रुतियों द्वारा कहे गए ब्रह्म के लक्षण ही ठीक मानने चाहिए।

न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—तु=पूर्व सूत्र में कही गई असमंजसता तो, न=नहीं है, दृष्टान्तभावात्=यह दृष्टान्तों से सिद्ध है।

व्याख्या—पूर्व सूत्र में की गई शङ्का निर्मूल है, क्योंकि कार्य जब अपने कारण में विलीन हो जाता है, तब कार्य के धर्म भी कारण में विलीन हो जाते हैं। जैसे स्वर्ण के आभूषण गला देने के बाद स्वर्ण ही बन जाते हैं, तब उनके लक्षण स्वर्ण में दिखाई नहीं देते। इससे प्रलय

अथवा उत्पत्ति किसी भी अवस्था में कारण का अपने कार्य के धर्मों से लिप्त होना सिद्ध नहीं होता।

स्वपक्षदोषाच्च ।। १० ।।

सूत्रार्थ—च=और, स्वपक्षदोषात्=प्रधान को कारण मानने में भी यह दोष उपस्थित होगा।

व्याख्या—प्रधान को कारण मानने से जगत् की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। सांख्यवादी स्वयं भी जगत् के कारण रूप प्रधान को अवयव रहित, अप्रकट और अग्राह्य कहते हैं। उससे साकार, प्रकट और देखने सुनने आदि से ग्राह्य जगत् की उत्पत्ति मानने से कारण की विलक्षणता स्वीकार होती है। फिर उत्पत्ति के पूर्व कार्य के शब्द, स्पर्श आदि लक्षण प्रधान में नहीं रहते और बाद में कार्य में आ जाते हैं। इसके सिवा प्रलय काल में सब कार्यों के प्रधान में लय होने पर प्रधान में कार्यों के शब्द, स्पर्श आदि लक्षण नहीं रहते। इन सब कारणों से भी जगत् का कारण प्रधान को मानना उचित नहीं है। क्योंकि प्रधान को कारण मानने में उक्त सभी दोष उपस्थित हैं।

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ।। ११ ।।

सूत्रार्थ—तर्काप्रतिष्ठानात्=तर्कों के स्थिर न रहने से, अपि=भी, अन्यथानुमेयम्=भिन्न प्रकार के अनुमान से कारण का निश्चय करें, इति=ऐसा कहो, चेत्=तो, एवम्=इस प्रकार, अनिर्मोक्षप्रसङ्गः=मोक्ष न होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

व्याख्या—तर्क परस्पर खण्डन रूप होने से उनकी मान्यता नहीं होती, क्योंकि बुद्धि वृत्ति में विभिन्नता होने के कारण अनुमानों में भी विभिन्नता होगी ही। यद्यपि अर्थ दृष्टि से तर्कों को ठीक मान लिया जाय

तो भी ब्रह्म में तर्क की अपेक्षा नहीं है। तर्क बुद्धि से तत्व ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और तत्वज्ञान के बिना मोक्ष असम्भव है। इसलिए ब्रह्म विषय में श्रुति ही प्रमाण है।

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—एतेन=इस प्रकार की धारणा से, शिष्टापरिग्रहा=शिष्ट पुरुषों द्वारा अमान्य मतों का, अपि=भी, व्याख्याताः=विवेचन किया गया है।

व्याख्या—सांख्य मत वालों द्वारा उपस्थित तर्कों का निराकरण करने से, अन्य शिष्ट पुरुषों द्वारा भी जो अमान्य युक्तियाँ उपस्थित की गईं उनका भी खण्डन होगया और इस सबसे यह सिद्ध हुआ कि वेद द्वारा वर्णित मत ही ब्रह्म विषय में यथार्थ ज्ञान कराने वाला है। इसलिए वेद से प्रतिकूल मतों को मान्यता नहीं दी जा सकती।

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो, भोक्त्रापत्तेः=ब्रह्म को जगत् का कारण मानने पर उसमें भोक्ता का दोष आ जायगा और, अविभागः=जीव और ब्रह्म की भिन्नता सिद्ध नहीं होगी तो भोग जड़ और भोक्ता चेतन की भिन्नता, लोकवत्=लोक में जैसे देखी जाती है, स्यात्=वैसे ही सिद्ध होगी।

व्याख्या—यदि यह शङ्का करो कि 'ब्रह्म को जगत् का कारण मान लेने पर जीव द्वारा कर्म-फल रूप भोगों का भोक्तापन ब्रह्म में भी सिद्ध होगा, इससे जीव और ब्रह्म की भिन्नता तो सिद्ध होगी ही नहीं साथ ही जड़ में भोक्तापन का आरोप होने से भोग्य और भोक्ता की भिन्नता भी न हो सकेगी। 'परन्तु, यह शङ्का निर्मूल है, क्योंकि संसार में इस प्रकार की भिन्नता प्रत्यक्ष दिखाई देती है। पिता का अंशभूत बालक गर्भ की पीड़ा को स्वयं भोगता है, पिता नही भोगता और पिता तथा बालक

का पृथक्-पृथक् होना भी प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म की भिन्नता नष्ट नहीं हो सकती और ब्रह्म में भोक्तापन का आरोप नहीं हो सकता। जैसे शासित और शासक का विभाग स्पष्ट है, वैसे ही जीव और ब्रह्म के विभाग को भी अमान्य नहीं किया जा सकता।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।। १४ ।।

सूत्रार्थ—तदनन्यत्वम्=उस कारणभूत ब्रह्म से जगत् का अनन्य होना, आरम्भणशब्दादिभ्यः=आरम्भण शब्द आदि के द्वारा भी सिद्ध है।

व्याख्या—छान्दोग्य में 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन' इत्यादि के अनुसार "मिट्टी के ढेले से ही मिट्टी से उत्पन्न कार्य जान लिए जाते हैं नाम, आकृति के भेद तो वाणी से कहने के लिए होते हैं, यथार्थ में तो वह सब मिट्टी ही है।" इसी प्रकार कार्य रूप में स्थित यह जगत् भी ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण ब्रह्म ही है। इस प्रकार ब्रह्म की जगत् से मान्यता का बोध होता है।

भावे चोपलब्धेः ।। १५ ।।

सूत्रार्थ—भावे=कार्य के सद्भाव होने पर, च=ही, उपलब्धेः=उसकी उपलब्धि सम्भव है।

व्याख्या—जब कार्य अपने कारण में निहित रहता है तभी उसकी उपलब्धि हो सकती है। आभूषण रूप कार्य अपने कारण रूप स्वर्ण में निहित रहने पर कार्य रूप में ही उपलब्ध रहता है। कारणभूत द्रव्य केवल अपने रूप को बदल देता है, परन्तु उसका स्वर्णत्व उससे दूर नहीं होता। इससे कार्य और कारण की अनन्यता सिद्ध होती है।

सत्त्वाच्चावरस्य ।। १६ ।।

सूत्रार्थ—अवरस्य=कार्य का कारण में, सत्त्वात्=विद्यमान रहने से, च=भी कार्य और कारण की अभिन्नता सिद्ध है।

व्याख्या—छान्दोग्य में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' कहा गया है। अर्थात्—'हे सोम्य ! यह उत्पत्ति से पहले भी सत्य था।' तथा 'ब्रीहिबीजे तथा मूलं नालं पत्रांकुरोतथा' इत्यादि श्रुति वचन के अनुसार 'जैसे ब्रीहि के बीज में मूल, नाल, पत्र, अंकुर, काण्ड, कोश, पुष्प, क्षीर, तण्डुल, तुष और कण विद्यमान रह कर प्ररोह की कारण रूप सामग्री पाकर ब्रीहि से ही उत्पन्न होते हैं, वैसे ही कर्मों में देवताओं का देह अवस्थित रहता है, परन्तु, वे सब देह विष्णु की शक्ति को प्राप्त कर प्रकट होते हैं। वह विष्णु जगत् की सृष्टि, स्थिति, पालन आदि के कर्त्ता हैं। इस प्रकार कार्य और कारण की अनन्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्य-शेषात् ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, असद्व्यपदेशात्=उत्पत्ति से पहिले जगत् को 'असत्' बतलाने से, न=कार्य कारण में पहले से ही निहित है यह सिद्ध नहीं होता तो, इति न=ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, धर्मान्तरेण=वैसा लक्षणों में विभिन्नता होने के कारण कहा गया है वह, वाक्यविशेषात्=वाक्य में शब्दों से सिद्ध होता है।

व्याख्या—यदि कहो कि छान्दोग्य (३।१६।१) के अनुसार 'यह जगत् उत्पन्न होने से पहिले 'असत्' ही था। इसी प्रकार छान्दोग्य (६।२।१) में कहा है कि 'कोई-कोई कहते हैं यह जगत् पहिले 'असत्' था। एक मात्र वही था, अन्य नहीं। फिर उस 'असत्' से 'सत्' प्रकट हुआ।' ऐसी ही बात तैत्तरीयोपनिषद (१।२।७।१) में भी कही है। इस प्रकार जगत् के लिए 'असत्' कहा जाने से कारण में कार्य का अस्तित्व नहीं दिखाई देता। तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि छांदोग्य (६।२।२) में प्रश्न है कि 'असत् से सत् कैसे प्रकट हो सकता है, ऐसा

होना कैसे सम्भव है?' इसका उत्तर भी वहीं मिलता है 'सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्' अर्थात् 'पहिले यह सब सत्य ही था' पहिले अव्याकृत अर्थात् अप्रकट था बाद में नाम रूप युक्त होकर प्रकट हो गया।

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—युक्तेः=युक्ति से, च=तथा, शब्दान्तरात्=अन्य शब्द प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—युक्ति से भी उपादान कारण और कार्य की अनन्यता सिद्ध होती है। जो वस्तु होगी ही नहीं, उसका उत्पन्न होना संभव नहीं है। मिट्टी से घट बनेगा ही कैसे? युक्ति के अतिरिक्त दूसरे शब्द प्रमाण भी हैं। यदि उत्पत्ति से पहिले सर्वत्र सब का न होना सिद्ध होता तो दही दूध से ही क्यों बनता है? मिट्टी से क्यों नहीं बन जाता? अथवा मिट्टी से बनने वाला घड़ा दूध से क्यों नहीं बनता? जिस पदार्थ में जैसी विशेषता है, वह दूसरे में नहीं हो सकती। इस प्रकार यह जगत् उत्पन्न होने से पहिले भी अपने 'सत्' रूप में ही था, यह सिद्ध होता है।

पटवच्च ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—पटवत्=वस्त्र के समान, च=भी यही मानना ठीक है।

व्याख्या—वस्त्र सूत से बनाया जाता है। जब तक वह सूत रूप में रहता है, तब तक वह कपड़ा नहीं कहा जाता, परन्तु बुन जाने पर उसकी वस्त्र संज्ञा हो जाती है। बुनने से पहिले और बुना जाने पर, इन दोनों ही अवस्थाओं में 'वस्त्र' अपने ही कारण में स्थित रहता है। सूत से उसका रूप भिन्न होने पर भी वह सूत से अभिन्न है। इसी प्रकार जगत् के संबन्ध में भी है। इससे सिद्ध हुआ कि उपादान कारण और कार्य में अनन्यता है, भिन्नता नहीं।

यथा च प्राणादिः ।। २० ।।

सूत्रार्थ—च=और, यथा=जैसे, प्राणादि=प्राण और इन्द्रियाँ।

व्याख्या—जेसे देह त्यागने पर प्राण और इन्द्रियाँ देह से बाहर निकलती हुई दिखाई नहीं देतीं तो भी उनका अस्तित्व रहता ही है। इसी प्रकार प्रलय काल में सृष्टि के विलीन हो जाने पर भी जगत् का अप्रकट रूप से अस्तित्व अवश्य रहता है। इससे भी कार्य की कारण में सत्ता सिद्ध होती है।

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोष प्रसक्तिः ।। २१ ।।

सूत्रार्थ—इतरव्यपदेशात्=ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरे को ब्रह्म कहने से, हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः=ब्रह्म द्वारा प्रतिकूल सृष्टि रचने का दोष-प्रसंग उपस्थित होगा।

व्याख्या—श्वेताश्वतर (४-३) 'त्वं स्त्री त्वं कुमार उतवा कुमारी' अर्थात् 'तू स्त्री, तू पुरुष तू ही कुमार और कुमारी है' अथवा छान्दोग्य (६।३।३) 'सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनानुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरोत्' अर्थात् 'इस देवता ने तेज आदि तत्व से बने देह में जीव रूप से प्रविष्ट होकर नाम रूपों को प्रकट किया।' इन वर्णनों में ब्रह्म के स्वयं ही जीव रूप से उत्पन्न होने की पुष्टि हुई है। इसमें ब्रह्म द्वारा प्रतिकूल सृष्टि रच कर अपना अहित करने का दोष दिखाई देता है क्योंकि जगत् में जन्म लेने वाले जीव दुःख-सुख रूप कर्म फल भोगते हैं, उनमें प्रविष्ट हुआ ब्रह्म भी उनके दुःखादि भोगों को भोगेगा, तो जो इस प्रकार दुःख भोगादि को प्राप्त होने के लिए जन्म-मरण के भँवर में स्वयं फँसे, वह ब्रह्म सर्वज्ञ अथवा दूरदर्शी नहीं हो सकता। परन्तु यह शका ठीक नहीं है, ब्रह्म और जीव में भिन्नता है, इसलिए ब्रह्म दुःख भोगादि में लिप्त नही है, यह बात अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं।

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, अधिकतम्=ब्रह्म जीव से अधिक है, भेदनिर्देशात्=क्योंकि श्रुति ने ब्रह्म और जीव का भेद स्पष्ट कहा है।

व्याख्या—'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति सत आत्मा अन्तर्याम्यमृतः' अर्थात् 'जो जीवात्मा के अन्तर्गत है, परन्तु जिसका देह है वह जीवात्मा उसे नहीं जानता, जो जीव का प्रवृत्ति, निवृत्ति रूप नियमन करता है, वह अन्तर्यामी ब्रह्म है।' वृहदारण्यक के अनुसार जीव के सम्बन्ध में कहा है कि 'उस परब्रह्म से अधिष्ठित हुआ यह एक दूसरे देह में अवस्थान करता है।' इससे भी जीवात्मा और ब्रह्म का भेद स्पष्ट सिद्ध हुआ। महाशक्तिशाली ब्रह्म अपने संकल्प के द्वारा जगत् की रचना कर उसमें प्रवेश कर लीला करते हैं। जब यह जगत् जीर्ण हो जाता है, तब वे मकड़ी के जाले के समान उसका संहार कर देते हैं। इसलिए यह सिद्ध है कि उक्त सूत्र में कहा दोष उनको नहीं लगता है।

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—च=और, अश्मादिवत्=पाषाण, काष्ठ आदि के समान, तदनुपपत्तिः=जीव ब्रह्म नहीं हो सकता।

व्याख्या—पत्थर, काष्ठ, लोह, ढेला आदि ब्रह्म नहीं हो सकता। क्योंकि ब्रह्म तो चेतन, आनन्दमय और सबकी रचना करने वाला है। पत्थर, काठ आदि में वह कारण रूप से अनुगत है। इसलिए उन पदार्थों से अभिन्न कहा जाता है। इस प्रकार जीव के अन्तर में प्रवेश कर वह उसको नियमित करता है, इस प्रकार जीव से अभिन्न रह कर भी वह भिन्न है। क्योंकि जीव अल्पबुद्धि वाला और सुख:-दुःख आदि का भोक्ता है, परन्तु ब्रह्म सर्वज्ञ और संसार के कर्म-फलादि भोगों से निर्लिप्त है। उसे जगत्

के भोग स्पर्श नहीं करते। वह हित-अहित दोनों से परे है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म का भेद सिद्ध है।

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो, उपसंहार दर्शनात्=साधन और सामान आदि को उपस्थित देखकर यह कह सकते हैं कि, न=जगत् का रचयिता ब्रह्म नहीं है तो, इति न=ऐसा कहना ठीक नहीं है, हि=क्योंकि, क्षीरवत्=दूध के समान ही ब्रह्म सृष्टि का कारण है।

व्याख्या—यदि यह शंका करो कि वस्तु का निर्माण करने के लिए सामान, साधन और सक्रिय कर्त्ता का होना आवश्यक है, इनके बिना निर्माण-कार्य नहीं हो सकता। ऐसे ही ब्रह्म के पास भी सामान और साधन आदि होना चाहिए, अन्यथा वह जगत् की उत्पत्ति का कार्य नहीं कर सकता। ब्रह्म के पास ऐसा कोई सामान, साधन आदि न होने से वह सृष्टि नहीं रच सकता। ऐसा कहना ठीक नहीं है। जैसे दूध अपने स्वभाव से ही दही रूप हो जाता है और उसका रुप बदलने के लिए साधनादि की आवश्यकता नहीं होती। मकड़ी भी अपनी शक्ति से ही जाला बुन डालती है, वैसे ही ब्रह्म अपनी शक्ति से ही सृष्टि की रचना करता है।

देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—लोके=लोक में, देवादिवत्=देव आदि के समान, अपि=भी साधनादि के बिना कार्य करने की क्षमता पाई जाती है।

व्याख्या—जैसे लोक में देवता अथवा योगी आदि सिद्ध गण अपनी अद्भुत शक्ति से ही, बिना किसी साधन और सामान के अपने इच्छित को साकार प्रकट कर लेते हैं, वैसे ही ब्रह्म अपनी इच्छा मात्र से ही जगत की रचना करता है।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—कृत्स्नप्रसक्तिः=ब्रह्म पूर्ण रूप से जगत के रूप में परिणत होगया, वा=अथवा, निरवयवत्व=उसके अवयव-रहित होने वाले, शब्दकोपः=श्रुति-वाक्यों से विरोध होगा।

व्याख्या—ब्रह्म को जगत् का कारण मानने पर यदि उसे अवयव रहित मानें तो पूर्ण रूप से जगत के आकार में परिणत होने का दोष उस पर लगेगा और यदि उसे अवयव सहित मानें तो उस पर यह दोष आवेगा कि उसके कुछ अंश विकारग्रस्त होकर जगत् के रूप में प्रकट हो गए हैं ! परन्तु, यहाँ ब्रह्म अवयव रहित है, श्रुति उसे 'निष्क्रियं निष्कलं शांतं निरवद्यं निरञ्जनम्' बताती है। इस अवस्था में उसके श्रवण, मनन आदि का उपदेश भी दूषित होता है। यदि वह अवयव सहित है तो उसे मरणशील मानना होगा। इसका निवारण नीचे का सूत्र करता है।

श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात् ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—तु=किन्तु, श्रुति ने ब्रह्म का स्वरूप, शब्द-मूलत्वात्=अपने शब्दों में प्रमाण रूप कहा है।

व्याख्या—ऊपर के सूत्र में ब्रह्म के सम्बन्ध में जिस दोष की शङ्का की गई है, वह निरर्थक है। क्योंकि ब्रह्म पक्ष में विचार श्रुति पर आधारित है। उसने जैसे संसार की उत्पत्ति ब्रह्म से बताई है, वैसे ही वह ब्रह्म को निर्विकार भी कहती है। उसे अवयव रहित कहने के साथ ही उसका सम्पूर्ण रूप से जगदाकार होना नहीं कहा है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसके एक पाद में होना कहा है। इससे ब्रह्म को जगत् का कारण मानने में कोई दोष नहीं ठहरता।

आत्मनि चैवं विचिताश्च हि ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ—च=और, आत्मनि=जीवात्मा में, च=भी, एवम्=ऐसी, हि=ही, विचित्राः=विचित्रता मिलती है।

व्याख्या—इससे पहिले सूत्र में ब्रह्म के सम्बन्ध में श्रुति-प्रमाण उपस्थित किये, उनके सिवा अन्य प्रमाणों द्वारा जीवात्मा में भी बहुत सी विचित्रताएँ मिलती हैं। योगीजन अपनी योग-शक्ति के बल पर अनेक प्रकार की रचनाएँ करते देखे गए हैं। इच्छा शक्ति के बल पर बहुत से विचित्र कार्य हो जाते हैं। प्राचीन ऋषियों ने अपने शाप के बल पर न जाने कितनों को भस्म किया और जीवित कर दिया। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि ब्रह्म की रचना-शक्ति का वर्णन श्रुति ने यथार्थ रूप से किया है।

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—स्वपक्ष=प्रधानवादियों के अपने पक्ष में, च=भी, दोषात्=दोष होने से ब्रह्म का जगत्-कारण होना सिद्ध है।

व्याख्या—सांख्यमत के अनुसार यदि उनके 'प्रधान' को जगत् का कारण मानने लगें तो उसमें अनेक दोष मिलेंगे। क्योंकि वे ब्रह्म की भांति ही प्रधान को भी सीमित या अवयव सहित नहीं मानते। जिन दोषों का आरोप वे ब्रह्म पर करते हैं, उन सभी दोषों से प्रधान भी नहीं बचता। इसलिए ब्रह्म ही जगत् का अनन्य निमित्त और उपादान कारण है, ऐसा ही श्रुति वाक्यों द्वारा प्रमाणित है।

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—च=और वह ब्रह्म, सर्वोपेता=शक्तिमान् है, तद्दर्शनात्=श्रुति में ऐसा ही दिखाई देता है।

व्याख्या—ब्रह्म का स्वरूप शक्ति विशिष्ट है। 'देवात्मशक्ति' प्रभृति श्रुति परम ब्रह्म को शक्तिमान् सिद्ध करती है। "सोऽकामयत" कह कर उसने सृष्टि रचना का संकल्प किया-इससे भी ब्रह्म की शक्ति का बोध होता है। "सत्यंज्ञानमनन्तं" प्रभृति श्रुति ने उसे सत्य, ज्ञान और अनन्त कह कर महान् शक्तिशाली सिद्ध किया है।

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ।। ३१ ।।

सूत्रार्थ—विकरणत्वात्=वह ब्रह्म मन, इन्द्रिय आदि करण रहित कहा है, इसलिए वह, न=जगत् का कारण नहीं है, चेत=यदि, इति=ऐसा कहो तो, तदुक्तम्=इस सम्बन्ध में पहिले कहा जा चुका है।

व्याख्या—यदि कहो कि ब्रह्म इन्द्रिय आदि से रहित होने के कारण जगत् की रचना करने में समर्थ नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। इसका उत्तर पहले दे चुके हैं। वैसे श्रुति भी इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहती है—'अपाणिपादोजवनोग्रहीता' इत्यादि (श्वेताश्वतर ३-१९) अर्थात् 'वह ब्रह्म हाथ पांव आदि इन्द्रियों के बिना भी सर्व कार्यों के करने में समर्थ है।' इसलिए ब्रह्म का ही जगत-कारण होना सिद्ध है।

न प्रयोजनवत्त्वात् ।। ३२ ।।

सूत्रार्थ—प्रयोजनवत्वात्=प्रयोजन युक्त न होने से, न=ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हैं।

व्याख्या—ब्रह्म परिपूर्ण होने से प्रयोजन रहित है। पूर्ण काम की स्वार्थ में प्रवृत्ति क्यों होगी ? प्रयोजन के बिना, जगत् का कारण मान लेने पर ब्रह्म में उन्मतत्ता आदि का दोष भी आ सकता है। इन शंकाओं का समाधान अगले सूत्र में किया गया है।

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।। ३३ ।।

सूत्रार्थ तु=तो, लोकवत् लीलाकैवल्यम्=सृष्टि रचना का उद्देश्य लोक के समान लीला ही है।

व्याख्या—ऊपर के सूत्र में जो शंका की गई, उसका निराकरण किया जाता है—ब्रह्म के परिपूर्ण होने पर भी सृष्टि रचना से उसकी प्रवृत्ति केवल लीला के लिए है। माण्डूकोपनिषद् में "दैवस्येव स्वभावोऽयमात्मकामस्य का स्पृहेति" कह कर इसे स्पष्ट कर दिया है।

अर्थात् 'देव की सब लीला स्वाभाविक है, जो आप्तकाम है उसमें स्पृहा (होड़) कहाँ है ?'

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ।। ३४ ।।

सूत्रार्थ—वैषम्यनैर्घृण्ये=विषमता और निर्दयता का दोष ब्रह्म को नहीं लगता, क्योंकि, सापेक्षत्वात्=वह शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा से सृष्टि की रचना करता है, तथा हि=ऐसा ही, दर्शयति=श्रुति दिखाती है।

व्याख्या - इस सूत्र में ब्रह्म पर दो दोष आते हैं (१) विषमता का अर्थात् किसी को उच्च, किसी को नीच योनि देने से पक्षपात का और (२) निर्दयता का, अर्थात् जीवात्मा को नरकादि की यातना देने का, अब इसके निराकरण में बृहदारण्यक (३।२-१३) देखिए "पुण्यो वै पुण्येनं कर्मणा भवति पापः पापेन" अर्थात् 'यह जीव पुण्य-कार्य से पुण्यवान और पाप करने से पापी होता है।' तो पाप करने वाला दुःख भोगे इसमें निर्दयता कैसी ? यदि पापी पुरुष स्वर्ग का सुख भोगने लगे तो पुण्य-कर्म कोई क्यों करेगा ? क्योंकि पुण्य कार्यों की अपेक्षा पाप कर्मों में सरलता प्रवृत्ति पाई जाती है। इसी उत्तर से विषमता के आरोप की भी निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि पुण्यात्मा को उच्च योनि प्राप्त होना स्वाभाविक और न्याय संगत है, यदि पापी को उच्च योनि और पुण्यात्मा को अधम योनि प्राप्त होने लगे तो ब्रह्म में अन्याय का दोष आरोपित होगा। इससे सिद्ध हुआ कि जीव अपने कर्म के फलस्वरूप उत्तम अथवा अधम योनि प्राप्त करता है और वैसा ही सुख दुःख-रूपी फल-भोग करता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी 'कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम्' कह कर श्रेष्ठ कर्म की महत्ता प्रकट की गई।

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ।। ३५ ।।

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, कर्माविभागात्=जीव और उसके कर्मों का ब्रह्म से अविभाग था, इसलिये वह कर्मों की अपेक्षा

से सृष्टि करता है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इति न=ऐसा नहीं है, अनादित्वात्=जीव और जीव के कर्म अनादि हैं।

व्याख्या—यदि यह कहो कि सृष्टि से पहिले एक मात्र ब्रह्म था, इससे विभिन्न जीवों का और उनके कर्मों का कोई विभाग नहीं था तो यह इस बात का सूचक नहीं है कि ब्रह्म ने जीवों के शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा रख कर ही भोक्ता, भोग्य और भोग-सामग्री रूप इस जगत् को प्रकट किया, जिससे उसमें विषमता और निर्दयता का दोष आरोपित होता है, तो इसका निराकरण यह है कि जीव और उनके कर्म अनादि हैं। कर्म के अनादि होने से अनवस्था का दोष भी नहीं लगता। 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' के अनुसार 'ब्रह्म ने पूर्व कल्प के समान ही सृष्टि रचना की।' इससे सिद्ध हुआ कि जीवों के स्वभाव के अनुसार ही ब्रह्म उन्हें कर्मों में प्रेरित करता है। वह उनके स्वभाव और रूप आदि का बदलता नहीं। इस प्रकार 'ब्रह्म' में किसी दोष का आरोप सिद्ध नहीं होता।

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ—च=तथा, उपपद्यते=जीव और उनके कर्मों का अनादित्व युक्तिपूर्वक सिद्ध है, च—और, अपि=भी (अन्यत्र भी), उपलभ्यते=मिलता है।

व्याख्या—जीव और उनके कर्मों का अनादि होना युक्तिसङ्गत भी है। उपपत्ति यह है कि कारण के सद्भाव से ही कर्म का सद्भाव हो सकता है। उपलब्धि यह है कि प्रत्येक जीव कर्म करने में लगा है और 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे' अर्थात् 'यह जीवात्मा नित्य, शाश्वत और पुरातन है, देह के नष्ट होने पर यह नष्ट नहीं होता, के अनुसार जीव अनादि है तो उसके कर्म भी अनादि होने में क्या सन्देह है ?

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ—सर्वधर्मोपपत्तेः=सभी धर्मों की ब्रह्म में सङ्गति होने से, च=भी (यह मत ठीक है) ।

व्याख्या—ब्रह्म में सभी धर्मों की सङ्गति है 'ऐश्वर्ययोगात् भगवान् विरुद्धार्थोऽभिधीयते' इत्यादि के अनुसार स्मृति कहती है कि "ऐश्वर्य योग के कारण भगवान् विरुद्ध धर्म समन्वित करके प्रसिद्ध है। परन्तु, उनमें किसी प्रकार का दोषारोपण नहीं, परस्पर विरुद्ध गुणों का समाधान होता है।" इस प्रकार सिद्ध होता है कि समान एवं विरुद्ध सभी प्रकार के धर्मों की ब्रह्म में सङ्गति होने से वही जगत् का एक मात्र कारण है, दूसरा कोई नहीं है।

॥ प्रथमः पादः समाप्त ॥

द्वितीयः पादः

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—च=और, रचना=सृष्टि, अनुपपत्तेः=जड़ प्रधान से न हो सकने से, अनुमानम्=अनुमान के कारण, न=सिद्ध नहीं हो सकती ।

व्याख्या—सांख्य मत वालों द्वारा वर्णित 'प्रधान' सृष्टि-रचना का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह चेतन नहीं है। सांख्य मत में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीनों को प्रमाण रूप मानते हैं। इनकी सिद्धि में सर्व सिद्धि निहित है। 'परिणामात्, समन्वयात्, शक्तितः' आदि सूत्र के द्वारा प्रधान को जगत् का कारण अनुमान किया गया है। परन्तु, प्रधान अचेतन है, चेतनत्व न होने के कारण जगत् की रचना वह कैसे

करेगी ? जैसे जड़ रूप ईंट किसी मकान के निर्माण में दीवार आदि में लगाई जाती है, परन्तु वह ईंट चिनाई का कार्य नहीं कर सकती, वह कार्य तो चेतन रूप मिस्त्री ही कर सकता है। अथवा जैसे मिट्टी के घोड़े को सुख-दुःखादि व्याप्त नहीं होते, क्योंकि सुख-दुःख का व्याप्तव्य तो अनुभूति का विषय है और वह अनुभूति केवल चेतन जीव को ही हो सकती है, वैसे ही जड़ 'प्रधान' द्वारा इस विचित्र जगत् की रचना सम्भव नहीं है।

प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—प्रवृत्तेः=सृष्टि रचना में प्रकृति द्वारा प्रवृत्त होना, च=भी सिद्ध नहीं है।

व्याख्या—चेतन द्वारा ही जड़ वस्तु को किसी कार्य में प्रवृत्त किया जा सकता है। इसके लिये रथ और सारथि का उदाहरण देना ठीक होगा, क्योंकि रथ जड़ है और सारथि चेतन। सारथि ही रथ को चलने में प्रवृत्त करता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जड़ प्रकृति द्वारा सृष्टि रचना का कार्य कदापि सम्भव नहीं है।

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, पय=दूध, अम्बुवत्=पानी के समान (प्रकृति द्वारा रचना संभव है, तो), तत्रापि=उसमें भी चेतना की ही प्रवृत्ति है।

व्याख्या—दूध और जल आदि अचेतन वस्तुएँ चेतन के कार्य से ही प्रेरित होकर अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं। यदि यह शङ्का करें कि अचेतन जल स्वयं ही नदी और बम्बे आदि के रूप में बहता है, अथवा अचेतन दूध स्वयं ही गाय-भैंस आदि के थनों से निकल आता है, तो यह शङ्का व्यर्थ है। गाय के थन से दूध उतरने अथवा जल के नदी आदि रूप में बहने में चेतन की प्रेरणा ही प्रवृत्ति करती है। वृहदारण्यक

(३।८।९) में 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते' अर्थात्—'हे गार्गि ! इस अविनाशी ब्रह्म के प्रशासन में पूर्व की ओर बहने वाली तथा अन्य नदियाँ बहती हैं।' इसी प्रकार बछड़े और गौ के वात्सल्य आदि भावों के कारण दूध निकलने लगता है, तो वह चेतन द्वारा प्रवृत्त किया जाना ही हुआ। दूसरे रूप में दूध काढ़ने वाला चाहता है, तभी थनों से दूध निकलता है, उसके निकाले बिना नहीं निकलता। इससे जड़ प्रकृति द्वारा जगत् की रचना का न हो सकना स्पष्ट सिद्ध होता है।

व्यतिरेकानवस्थितेश्च अनपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—व्यतिरेकानवस्थिते=प्रकृति के पृथक् भाव में अवस्थित न होने से, च=और, अनपेक्षत्वात्=अपेक्षा-रहित होने से।

व्याख्या—प्रकृति का नियामक पृथक् न मानने से अर्थात् जड़ प्रकृति का किसी चेतन द्वारा प्रेरित किया जाना न मानने से पुरुष की उदासीनता स्पष्ट है, क्योंकि वह किसी का प्रवर्तक या निवर्तक नहीं रहा। फिर 'प्रधान' को किसी की अपेक्षा भी नहीं रही क्योंकि सांख्य मत वालों ने उसके सिवा अन्य कोई कारण अथवा प्रेरक-प्रवर्त्तक आदि नहीं माना है। इससे वह कभी तो महत्तत्त्वादि विकारों के रूप में होता है, कभी नहीं होता। यदि उसका स्वभाव उत्पत्ति करना है तो सुषुप्ति के कार्य में वह प्रवृत्त कैसे होगा ? इस प्रकार जड़ प्रकृति रूप 'प्रधान' जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता नहीं हो सकता। यह कार्य तो केवल ब्रह्म के ही हैं।

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—तृणादिवत्=तृण आदि के समान, च=भी, न=नहीं हो सकता क्योंकि, अन्यत्र=अन्य स्थान में, अभावात्=

अभाव होने के कारण ('प्रधान' जगत् के रूप में परिणत नहीं होता)।

व्याख्या—गो आदि के द्वारा खाये जाने के बाद घास आदि स्वभाव से ही दूध बन जाते हैं, इसी प्रकार प्रधान भी स्वभाव से ही जगत् के रूप में परिणत हो सकता है, तो यह शङ्का इसलिए व्यर्थ है कि गो, भैंस, बकरी आदि के पेट में गया हुआ तृण आदि खाने वाले चेतन के निमित्त से ही दूध बन सकता है। परन्तु, अन्य स्थान में रक्खा या डाला हुआ तृण आदि दूध नहीं बन सकता। इससे सिद्ध होता है कि जड़ पदार्थ का रूप-परिवर्तन भी चेतन की प्रवृत्ति के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार जड़ प्रधान का जगत् के रूप में परिणत न हो सकना स्पष्ट है।

अभ्युपगमेऽप्यर्थाऽभावात् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—अभ्युपगमे =मान लेने पर, अपि=भी, अर्थाभावात्=प्रयोजन की सङ्गति न होने से (मान्यता निरर्थक होगी)।

व्याख्या—बिना चेतन की प्रेरणा के जड़ प्रकृति द्वारा सृष्टि की रचना आदि कार्यों का करना कदापि सम्भव नहीं है। फिर भी यदि ऐसा मान ही लें तो इसके लिए कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि सांख्य कारिका में 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य" कहा है। जिसके अनुसार 'पुरुष के दर्शन और मोक्ष के लिए प्रधान की प्रवृत्ति है।' तथा "पुरुषो मां भुक्त्वा मद्दोषाननुभूय मदौदासीन्यलक्षणं मोक्षं प्राप्स्यती" अर्थात् 'पुरुष प्रधान मेरा भोग कर, मेरे दोष का अनुभव कर, मुझसे उदासीन रूप मोक्ष को प्राप्त होगा।' इससे पुरुष के भोग और अपवर्ग के निमित्त प्रधान की प्रवृत्ति-अनुमति सिद्ध होती है। जैसे ऊँट अपने लिए भार नहीं ढोता, दूसरों के लिए ही ढोता है, वैसे ही प्रधान भी स्वयं भोग नहीं करता, दूसरों के लिए ही प्रवृत्त होता है। ठीक उसी

प्रकार जैसे अन्न का खाने वाला, अन्न का कर्त्ता न होकर भोक्ता होता है, इससे अकर्त्ता पुरुष का भोक्ता होना सिद्ध है। तो इस प्रकार की प्रवृत्ति स्वीकार करने में न तो सङ्गति है और न कोई प्रयोजन ही सिद्ध होता है। पुरुष का भोग सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रवृत्ति से पहिले चेतन, विकाररहित, अकर्त्ता पुरुष का विकार युक्ति सङ्गत नहीं है और अपवर्ग भी, प्रवृत्ति के पहिले रहने से व्यर्थ है। इस प्रकार सांख्य मत वालों की बात मानना निरर्थक है।

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—चेत् इति=यदि ऐसा कहो कि, पुरुषाश्मवत्=जैसे अन्धा और पंगु दोनों मिल कर मार्ग में चल सकते हैं अथवा जैसे चुम्बक लोहे को खींच लेता है, (वैसे ही पुरुष-प्रकृति के संयोग से जड़ प्रकृति प्रवृत्त होती है) तो, तथापि=ऐसा मान लेने पर भी (मान्यता निरर्थक होगी)।

व्याख्या—जैसे मार्ग चलने की शक्ति से हीन पंगु और दिखाई देने वाली शक्ति से हीन अन्धा दोनों मिल कर चल सकते हैं, क्योंकि पंगु को मार्ग दिखाई देता है और अन्धा चल सकता है। इस प्रकार पंगु अन्धे के कन्धे पर बैठ कर अन्धे को मार्ग बताता हुआ अभीष्ट स्थान पर ले जा सकता है, अथवा जैसे लोहे को चुम्बक खींच लेता है, वैसे ही पुरुष और प्रकृति मिल कर सृष्टि रचना का कार्य करते हैं। यदि इस बात को मान भी लें तो यह कहना अभीष्ट है कि पंगु और अन्धे दोनों चेतन हैं। यदि पंगु के आँखें न होतीं तो वह मार्ग नहीं बता सकता था और अन्धे के पाँव न होते तो वह चल नहीं सकता था। इसी प्रकार लोहे और चुम्बक को निकट लाने का कार्य चेतन पुरुष ही करेगा। यदि लोहे और चुम्बक को पास-पास न रखेंगे तो चुम्बक की आकर्षण शक्ति काम नहीं करेगी। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि अचेतन प्रकृति सृष्टि-रचना का कार्य नहीं कर सकती।

अंगित्वानुपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—च=और, अङ्गित्वानुपपत्तेः=(सत्व, रज, तम के उत्कर्ष और अपकर्ष रूप) अङ्ग और अङ्गि भाव सिद्ध न होने से प्रधान को जगत् का कारण नहीं मान सकते।

व्याख्या—सांख्य मत वाले सत्त्वादि तीनों गुणों की समान अवस्था को ही 'प्रधान' कहते हैं। यदि गुणों की समान अवस्था को स्वाभाविक मान लें तो कोई गुण किसी गुण का अङ्गी नहीं होगा। इसलिए गुणों में विषमता न होने से अङ्ग और अङ्गी भाव की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि गुणों में ह्रास होने पर घटे हुए गुण को अङ्ग और गुणों में वृद्धि से बढ़े हुए गुण को अङ्गि मानते हैं। इस प्रकार गुणों की विषमता को स्वाभाविक मानें तो जगत् की सृष्टि समान रूप से चलती रहेगी, संहार कभी न होगा। इस प्रकार गुणों की विषमता को सृष्टि का कारण नहीं मान सकते। अतः प्रधान का जगत् कारण होना सिद्ध नहीं होता।

अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्ति वियोगात् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—अन्यथा=अन्य प्रकार से, अनुमितौ=अनुमान करने पर, च=भी, ज्ञशक्ति=ज्ञान शक्ति का, वियोगात्=अभाव होने से (प्रधान द्वारा रचना कार्य सम्भव नहीं है)।

व्याख्या—यदि गुणों की विषमता का होना काल आदि अन्य कारणों से मान भी लें, तो प्रधान में ज्ञान शक्ति के अभाव की पूर्ति कहाँ से होगी? बिना ज्ञान शक्ति के किसी प्रकार की रचना अथवा निर्माण-कार्य सम्भव नहीं है। जैसे ईंट, काठ, लोहा आदि जड़ पदार्थ चेतन अधिष्ठान के बिना कार्य नहीं कर सकते, वैसे ही अचेतन गुण-समूह रूप प्रधान, चेतन ब्रह्म के अधिष्ठान के बिना सृष्टि-रचना का कार्य कदापि नहीं कर सकता।

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ।। १० ।।

सूत्रार्थ—विप्रतिषेधात्=परस्पर के विरोधी कथन से, च=भी, असमंजसम्=(सांख्य शास्त्र) असङ्गत है ।

व्याख्या—सांख्य शास्त्र के अनेक स्थलों में परस्पर विरोधी बातें मिलती हैं, जैसे "असङ्गोऽयं पुरुष इति" अर्थात्—'पुरुष असङ्ग है', "निष्क्रियस्य तदसम्भवात्" से उसे निष्क्रिय कहा है, "द्रष्ट्त्वादिरात्मनः" कह कर उसे प्रकृति का द्रष्टा बताया है और "भोक्तृभावात्" कह कर भोक्ता भी कह दिया है । प्रकृति के साथ उसका संयोग तथा पुरुष के लिए भोग और मोक्ष देने वाली प्रकृति ही बताई है । मोक्ष का स्वरूप बताते हुए प्रकृति और पुरुष के वियोग का ज्ञान होने से दुःख के अभाव को ही मोक्ष कहा है । "नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते" सूत्र से अविवेक के बिना पुरुष का एकान्त बन्ध या मोक्ष न होना कहा है और "प्रकृतेराञ्जस्यात् ससङ्गत्वात् पशुवत्" अर्थात् 'प्रकृति के संसर्ग से पुरुष पशु के समान बन्धन में पड़ता है ।' आदि अनेक परस्पर विरोधी बातें होने से सांख्य दर्शन असङ्गत और अनुपादेय है ।

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ।। ११ ।।

सूत्रार्थ—ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम=ह्रस्व (द्व्यणुक और परमाणु) द्वारा, महद्दीर्घवत्=महत् और दीर्घ (त्र्यणुक) की उत्पत्ति कहने के समान, वा=ही (सब बातें असङ्गत हैं)।

व्याख्या—परमाणु को कारण मानने वाले वैशेषिकों का कहना है कि चेतन ब्रह्म को विश्व का कारण मानने पर ब्रह्म में निहित चेतन्य गुण जगत् में समवाय सम्बन्ध से रहना आवश्यक है । परन्तु सम्पूर्ण जगत् में चेतन्य गुण नहीं पाया जाता, इसलिए चेतन ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता, परमाणु ही जगत् के कारण हो सकते हैं । समाधान से पहिले परमाणुवाद की प्रक्रिया का उल्लेख उचित है ।

'प्रलय काल में सम्पूर्ण परमाणु पृथक्-पृथक् एवं क्रियाहीन रहते हैं, अदृष्ट की इच्छा से पुण्य-पापमय जीवों की सङ्गति से परमाणु में आरंभ के अनुकूल क्रिया होने से विभाग होता है। सृष्टि-काल में समवायि कारण परमाणु हैं, उनका परस्पर संयोग असमवायि कारण हैं और अदृष्ट की इच्छा आदि निमित्त कारण बन जाते हैं। उस समय अदृष्ट की इच्छा से प्रथम कर्म वायवीय परमाणुओं में प्रकट होकर फिर उनका परस्पर संयोग होता है, तब दो अणु मिल कर द्वयणुक तीन द्वयणुक मिल कर त्र्यणुक और चार त्र्यणुक मिल कर एक चतुरणुक बनते हैं। इसी प्रकार परमाणुओं के संयोग होते-होते पार्थिव परमाणुओं से पृथिवी, जलीय परमाणुओं से जल, वायवीय परमाणुओं से वायु, तैजस परमाणुओं से अग्नि आदि की रचना कही गई है। इस प्रकार कारण के गुणों से ही कार्य के गुण प्रकट होते हैं। जैसे रङ्गों के गुण वस्त्र में वैसे ही गुण प्रकट करते हैं, वैसे ही परमाणु के शुक्ल आदि गुणों से ही द्वयणुक में शुक्ल आदि गुण उत्पन्न होते हैं। द्वयणुक के दो परमाणु उसमें अणुत्व और ह्रस्वत्व को प्रकट करते हैं। परन्तु विभिन्न परमाणुओं का भिन्न परिमाण अन्य पारिमाण्डल्य को प्रकट नहीं करता। इससे सिद्ध होता है कि परमाणुवाद से जगत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं है क्योंकि कारण के गुण कार्य में प्रकट होने से पारिमाण्डल्य रूप अत्यन्त सूक्ष्म गुण ही द्वयणुक में उत्पन्न होना चाहिए, परन्तु वहाँ ह्रस्व गुणयुक्त द्वयणुक की उत्पत्ति होती है और उनसे महत्-दीर्घ परिमाण वाले त्र्यणुक बनते हैं। इससे यह सब असङ्गत ही समझना चाहिए।

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—उभयथा=दोनों प्रकार से, अपि=भी, कर्म=परमाणुओं में कर्म का होना, न=सिद्ध नहीं होता, अतः=इस कारण, तदभाव=परमाणु-संयोग से सृष्टि का होना असम्भव।

व्याख्या—परमाणुवादियों का यह कहना कि सृष्टि के पहिले

परमाणु कर्म रहित रहते हैं और कर्म भाव को प्राप्त होकर परमाणु परस्पर मिलते हैं, जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है, ठीक नहीं है। यदि यह मान लें कि किसी निमित्त के बिना कर्म का संचार स्वयं हो जाता है, तो ऐसा होना सम्भव नहीं है। यदि जीवों के अदृष्ट कर्म-संस्कारों से परमाणुओं में कर्म का संचार होना मानें तो यह भी असम्भव है क्योंकि जीवों के अदृष्ट कर्म तो जीवों में ही निहित रहते हैं, परमाणुओं में नहीं रहते। दूसरे अदृष्ट के चेतन न होने से भी उसके द्वारा सृष्टि का कार्य नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि परमाणुगत प्रारम्भिक कर्म का दोनों प्रकार ही होना असम्भव है।

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—समवायाभ्युपगमात्=परमाणुवाद में समवाय को मानने से, च=भी, साम्यात्=कारण-कार्य की भिन्नता के समान समवाय और समवायी में भिन्नता है, इसलिये, अनवस्थितेः= समवाय की अवस्था न रहेगी।

व्याख्या—परमाणुवादी मानते हैं कि पृथक्-पृथक् रह सकने वाली वस्तुओं में पारस्परिक संयोग-सम्बन्ध होता है और पृथक् पृथक् न रह सकने वाली वस्तुओं में समवाय-सम्बन्ध होता है। जैसे रस्सी और घड़ा पृथक् पृथक् रह कर भी संयोग-सम्बन्ध स्थापित करते हैं, वैसे ही तन्तु और वस्त्र एक होकर भी पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं। कारण और कार्य की भिन्नता होते हुए भी समवायिक कारण और कार्य के परस्पर सम्बन्ध को वे समवाय कहते हैं। इसके अनुसार दो अणुओं से प्रकट द्व्यणुक-कार्य उन अणुओं से भिन्न होने पर भी समवाय-सम्बन्ध के कारण उनसे मिला हुआ है। ऐसा मान लें तो द्व्यणुक के अणुओं से भिन्न होने के समान 'समवाय' का समवायी भिन्न होना मानना होगा। इस प्रकार द्व्यणुक समवाय सम्बन्ध के समान ही, समवाय भी अपने समवायी के साथ नया समवाय-सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा। यदि ऐसा ही होता रहे

सो उत्तरोत्तर समवाय-सम्बन्ध होते ही रहेंगे और इस प्रकार अनवस्था का दोष भी उपस्थित होगा। इस प्रकार समवाय-सम्बन्ध के अवरुद्ध होने से परमाणुओं द्वारा जगत् की सृष्टि होना कदापि सम्भव नहीं है।

नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—च=और, भावात्=समवाय को स्वाभाविक मानने पर नित्यम् एवं=सदा ऐसा ही बना रहेगा।

व्याख्या—यदि परमाणुओं को नित्य मानें तो उनका स्वभाव भी नित्य अर्थात् सदा रहने वाला होगा। यदि उन्हें प्रवृत्तिमूलक मानें तो सृष्टि होती ही रहेगी, विनाश कभी होगा ही नहीं। यदि निवृत्ति मूलक स्वभाव मान लें तो कभी सृष्टि नहीं होगी और यदि दोनों ही धर्म उनके स्वभाव में निहित समझे जायँ तो यह किसी प्रकार संगत नहीं है क्योंकि एक ही तत्व में दो विरुद्ध स्वभाव सम्भव नहीं हैं। इस प्रकार परमाणुवाद की निरर्थकता सिद्ध होती है।

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—च=और, रूपादिमत्त्वात्=परमाणुओं को रूप आदि गुणों वाला मानने से, विपर्ययः=नित्यत्व की विपरीतता, दर्शनात्=दिखाई देती है।

व्याख्या—परमाणुवादियों ने परमाणुओं को नित्य तो माना ही है, साथ ही उन्हें रूप, रस आदि गुणों से युक्त भी माना है। परन्तु रूप, रसादि गुण वाली वस्तु नित्य नहीं हो सकती, क्योंकि रूप, रस वाले घट, पट इत्यादि सभी नाशवान् हैं। इस प्रकार रूप, रस आदि के कारण परमाणुओं में नित्यता के विपरीत अर्थात् मरणशील होने का दोष आरोपित होता है। यदि उन्हें रूप, रसादि से रहित मानें तो यहाँ उन्हें

रूपादि गुण समन्वित और नित्य कहा है। इस प्रकार परमाणुवाद की निरर्थकता स्पष्ट दिखाई देती है।

उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—उभयथा=दोनों प्रकार से, च=ही, दोषात्=दोष होने से (परमाणुवाद की सत्ता सिद्ध नहीं होती)।

व्याख्या—यदि सभी परमाणुओं को अधिक गुण वाला मानें तो सभी कार्यों में उनके समान गुण प्रकट होने से सभी द्रव्य अपने-अपने धर्मों को छोड़ देंगे। इस प्रकार जल में भी गन्ध और तेज में भी गन्ध उत्पन्न हो सकता है। यदि परमाणुओं में न्यूनतम गुण माने जायँ तो स्पर्श धर्म वाली वस्तुऐं स्पर्श-हीन हो जायेंगी, उनमें रूप, रस आदि भी नहीं रहेंगे। यदि गुण का अभाव मानें तो कार्यों में भी गुणहीनता होगी। इस प्रकार परमाणुवाद की सार्थकता निराधार सिद्ध होती है।

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—अपरिग्रहात्=किसी मत द्वारा परमाणुवाद को मान्यता न देने के कारण, च=भी अत्यन्तम्=सर्वथा, अनपेक्षा=उपेक्षा के योग्य है।

व्याख्या—सांख्य मत की कुछ बातों को अनेक विद्वानों ने अंश रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि उसमें कुछ सत्कार्यों का भी निरूपण किया गया है। परन्तु परमाणुवाद के वेद-विरुद्ध होने के कारण किसी भी सत्पुरुष ने इसे मान्यता नहीं दी है। इस कारण भी परमाणुवाद की निरर्थकता सिद्ध होती है।

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—उभयहेतु के=अणुओं से पृथिवी का जो निर्माण होता है और जो पार्थिव इन्द्रियाँ आदि हैं, उन दोनों के, समुदाय=

समुदाय को मान लेने पर, अपि=भी, तद्प्राप्तिः=उनकी प्राप्ति सङ्गत नहीं होती।

व्याख्या—अब बौद्ध मत का निराकरण करते हैं। बौद्ध मत के चार प्रकार के अनुयायी हैं। (१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार, (४) माध्यमिक। उनमें वैभाषिक मानते हैं कि 'समस्त बाह्य वस्तुमात्र ही प्रत्यक्ष है' सौत्रान्तिक 'बुद्धि वैचित्र्य से वस्तुमात्र का अनुमेयत्व' स्वीकार करते हैं, योगाचार का मत है कि 'वस्तुमात्र असत् है, एक मात्र विज्ञान ही सत् है, वाह्य पदार्थ मिथ्या हैं' और माध्यमिक मानते हैं कि 'समस्त शून्य ही है।' बौद्ध मत वाले इन चारों को मिलाकर 'भावना चतुष्टय' कहते हैं। रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार इन पाँचों को दुःख मानते हैं। बोध को विज्ञान कहते हैं। विज्ञान दो प्रकार का है आलय और प्रवृत्ति। आलय को 'आत्मा' अथवा चित्त' भी कहा है। विषय के साथ इन्द्रियों की सङ्गति से जिन नाम, रूपों का बोध होता है, वह संज्ञास्कन्ध है। राग, द्वेष, मोह, मद, मात्सर्य, धर्म, अधर्म आदि संस्कार स्कन्ध है। भूत, भौतिक तथा चित्त और चैत्य की सङ्गति से संसार यात्रा का निर्वाह होता है। यह सब व्यवहारों के आश्रय रूप होकर अन्तःकरण में निवास करते हैं। यह अन्तर में स्थित समुदाय ही चतुःस्कंध हैं। इन दोनों समुदायों से भिन्न आकाश, आत्मा आदि किसी वस्तु की सत्ता नहीं है, इन दोनों समुदायों से ही जगत् के सब व्यवहारों का निर्वाह हो जाता है। यदि इस पर विवेचन करें तो बौद्धों के इस जगदात्मक समुदाय की सत्ता सिद्ध नहीं होती क्योंकि समुदाय की सभी वस्तुयें अचेतन एवं पारस्परिक अपेक्षा से रहित हैं। इस प्रकार उनके द्वारा संघात नहीं बन सकता। परमाणु आदि को बौद्धों ने ही क्षणिक बताया है, तो क्षण भर में नष्ट हो जाने वाली वस्तु के संगठित होने से भी संघात की सिद्धि नहीं होती। इसलिए बौद्धों की कल्पना भी युक्ति संगत नहीं है।

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, इतरेतर प्रत्ययत्वात्=परस्पर एक दूसरे का कारण होने से, समुदाय का होना ठीक बनता है तो, इति न=यह कहना उचित नहीं है, उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्=पूर्व पदार्थ से अगले पदार्थ की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या—बौद्धों के अनुसार क्षणिक वस्तुओं में नित्यत्व अर्थात् नष्ट न होने का भाव ही 'अविद्या' कहा गया है। यह अविद्या ही राग आदि संस्कार उत्पन्न करती है। संस्कार से गर्भ में स्थित शिशु में 'आलय' नामक विज्ञान उत्पन्न होता है। आलय से शरीर समुदाय के कारणभूत पृथिवी आदि चार भूत होते हैं। उन चार भूत, नाम रूप, शरीर, विज्ञान और धातु को आश्रय में रखने वाली छः इन्द्रियों का समूह 'षडायतन' कहा जाता है। नाम, रूप, इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध को 'स्पर्श' कह कर उससे सुख आदि की—'वेदना' की उत्पत्ति कही है। वेदना से तृष्णा, उपादान, भव, जाति, वृद्धावस्था, मृत्यु, शोक, परिवेदना, दुर्मनस्ता आदि का उत्पन्न होना कहा गया है। इसके बाद फिर अविद्या आदि के क्रम से सब आविर्भूत होता रहता है। यह चक्र निरन्तर घूमता रहता है। इससे समुदाय सिद्धि की बात कहना नितान्त भ्रममूलक है। क्षणिक को स्थिर मानने वाली युक्ति ठीक नहीं हो सकती। अविद्या और उससे उत्पन्न रागादि की उत्पत्ति से संघात-पूर्वक सृष्टि की कल्पना कदापि सिद्ध नहीं होती।

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—च=और, उत्तरोत्पादे=पूर्व क्षण को उत्तरक्षण का उत्पादक मानें तो यह भी नहीं बनता, क्योंकि, पूर्वनिरोधात्=पूर्व क्षण में होने वाला कारण नष्ट हो जाता है।

व्याख्या–घट-पट आदि कार्यों में उनके कारण का विद्यमान रहना प्रत्यक्ष देखा जाता है। कार्य में कारण के विद्यमान रहने को ही कार्य-कारण भाव की सिद्धि माना गया है। परन्तु, बोद्धमतावलम्बी सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं, इससे कार्य में कारण का विद्यमान रहना नहीं बनता। परन्तु कारण के क्षणिक होने से कार्य की उत्पत्ति के साथ ही कारण का विनाश हो जायगा। इस प्रकार कार्य-कारण भाव की सिद्धि न होने से भी संघात द्वारा जगत् की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥२१॥

सूत्रार्थ—असति=बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति मानने से, प्रतिज्ञोपरोधः=प्रतिज्ञा नहीं रहेगी, अन्यथा=इसके विपरीत योगपद्यम्=कारण-कार्य दोनों की एक समय में उपलब्धि माननी होगी।

व्याख्या—बोद्धमत में विज्ञान की चार प्रकार से उत्पत्ति मानी गयी है। इन चारों के 'प्रत्यय' युक्त नाम—अधिपति, सहकारि समान्तर, और आलम्बन। यह चारों क्रमशः इन्द्रिय, प्रकाश, मनोयोग और विषय वाची माने गए हैं। इन चारों की संगति से ही विज्ञान उत्पन्न होना कहा है। बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति होना स्वीकार करने से से-स्कन्ध रूप कारण से समुदाय की उत्पत्ति होना स्वीकार करने से, स्कन्ध रूप कारण से समुदाय की उत्पत्ति होने वाली प्रतिज्ञा नष्ट हो जाती है। यदि ऐसा नहीं मानें तो कारण और कार्य दोनों की उपलब्धि एक समय में ही माननी होगी। इस प्रकार बोद्धमत किसी प्रकार भी ग्रहण करना योग्य नहीं है।

प्रतिसंख्यप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २२॥

सूत्रार्थ—प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्ति = प्रति संख्या और अप्रतिसंख्या की अप्राप्ति सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि, अविच्छेदात् क्यों कि प्रवाह का विच्छेद नहीं होता।

व्याख्या – भावों के बुद्धिपूर्वक नष्ट होने को प्रतिसंख्या निरोध और उसके विपरीत लक्षण को अप्रतिसंख्या निरोध कहा है। आवरण का अभावमात्र ही आकाश है। इस प्रकार यह तीनों ही रूप-रहित और शून्य हैं। उनके अतिरिक्त जो कुछ है, वह क्षणिक है। अविच्छेद के कारण उपरोक्त दोनों निरोध सम्भव नहीं हैं। अवस्था के अन्तर का आश्रय ही सत् वस्तु की उत्पत्ति और विनाश रूप है। सब पदार्थ प्रतिक्षण नाशवान हैं और असत् कारण से सत् की उत्पत्ति भी प्रतिक्षण होती है। इस प्रकार विनाश और उत्पत्ति का क्रम निरन्तर चलते रहने से किसी भी निरोध की सिद्धि नहीं होगी। फिर सत् वस्तु का शून्य रूप से होना विनाश कहा जाय तो प्रत्येक क्षण संसार शून्य ही दिखाई दे। परन्तु, ऐसा कभी नहीं होता। इसलिए बौद्धमत की उपादेयता सिद्ध नहीं होती।

उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—उभयथा=दोनों प्रकार से, च=भी, दोषात्=दोष उपस्थित होने से (बौद्ध मत की उपादेयता सिद्ध नहीं होती)

व्याख्या—बौद्ध मत वालों से संसार के कारण रूप अविद्या आदि के निरोध को मोक्ष माना है। इसमें दो शंकाएं उपस्थित होती हैं—(१) यह मोक्ष तत्वज्ञान से होता है अथवा (२) स्वयं ही हो जाता है ? तत्वज्ञान से होने से मोक्ष होना इसलिए सम्भव नहीं है कि ऐसा होने पर बिना कारण विनाश अर्थात् पदार्थों का अभाव मानना होगा, इससे अप्रति संख्या निरोध नहीं माना जा सकेगा। यदि स्वयं ही मोक्ष माना जाय, तो भी संगति नहीं बैठती क्योंकि स्वयं मोक्ष मानने से साधन का उपदेश निरर्थक हो जायगा। अतः दोनों प्रकार से ही बौद्धों का मत सिद्ध नहीं होता।

आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—आकाशे=आकाश के सम्बन्ध में, च=भी उनका कहना उचित नहीं है क्योंकि, अविशेषात्=उनके कहने में कोई विशेषता नहीं है।

व्याख्या—आकाश में शून्यता का प्रतिपादन अविशेष के कारण सम्भव नहीं हैं। 'आकाश में पक्षी उड़ा' इस प्रतीति के कारण भी आकाश की सिद्धि नहीं होती। कोई भी भाव-पदार्थ, अभाव में कैसे उड़ेगा? फिर पृथ्वी आदि की भाँति आकाश में भी भाव-रूप दिखाई देने से और पृथ्वी के गंधादि गुणों के समान आकाश में शब्द गुण रहने से वायु को आकाश का संश्रय नही कह सकते। आकाश को यदि आवरण सहित मान लें तो वह पृथ्वी आदि का आवरण हो सकता और इस प्रकार संसार में आकाश की सत्ता ही नहीं रहती। परन्तु 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' से आकाश की सत्ता अस्वीकार नहीं की जा सकती। इससे यह सिद्ध है कि आकाश अभाव रूप नहीं है।

अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—अनुस्मृतेः=पूर्व प्रसंगों की स्मृति हो जाने से, च=भी बौद्धमत की अनुपदेयता सिद्ध होती है।

व्याख्या—पहिले किये हुए कार्यों का याद होना अनुस्मृति है। अनुभव करने वाला आत्मा नित्य होगा तभी उसे अनुस्मृति होगी। यदि आत्मा को क्षणिक मानें तो यह भी मानना होगा कि उसे पुरानी बातें याद नहीं रह सकतीं। क्योंकि क्षणिक का अस्तित्व एक क्षण में नष्ट हो जायगा। परन्तु, अनुस्मृति का अनुभव सभी मनुष्य करते हैं, इसलिए, आत्मा का अविनाशी होना सिद्ध होता है। इस प्रकार बौद्धों का मत उपादेय नहीं है।

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—असतः=असत् से (कार्य उत्पन्न), न=नहीं हो सकता, क्योंकि अदृष्टत्वात=धर्मी के नष्ट होने पर उसके धर्म का अन्य पदार्थ में संक्रमण होना नहीं देखा गया है।

व्याख्या—असत् पदार्थों से कार्य की सिद्धि नहीं होती। जैसे आकाश में नीलापन नहीं होता, फिर भी ऐसा दिखाई देता है कि आकाश नीला है। आकाश में पुष्प नहीं होते, परन्तु आकाश-पुष्प वाणी द्वारा कहे जाते हैं। इसी प्रकार पीला वस्त्र जला दिया जाय तो उसका पीला रंग भी नष्ट हो जायगा। जो नष्ट हो जाय वह 'असत्' है। इसके विपरीत प्रत्यक्ष पदार्थ को 'सत्' कहते हैं। मिट्टी, लोह आदि सत् पदार्थ होने से उनके द्वारा घट, औजार आदि की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। इस मिट्टी में लोह आदि सत्ता नष्ट नहीं होती केवल रूप बदल जाता है। अतः बौद्धमत की अनुपदेयता सिद्ध है।

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ।। २७ ।।

सूत्रार्थ—च=और, एवम्=इस प्रकार असत् से उत्पत्ति मानें तो, उदासीनानाम्—कार्य न करने वाले (निकम्मे) पुरुषों का, अपि=भी, सिद्ध=सर्वाथ सिद्धि हो सकती है।

व्याख्या—यदि यह मान लें कि किसी कार्य की उत्पत्ति में चेतन-कर्त्ता की आवश्यकता नहीं है। अथवा बिना कर्त्ता के ही कार्य स्वयं उत्पन्न हो जाता है तो जो व्यक्ति कार्य सिद्धि के लिये चेष्टा नहीं करते उनका कार्य भी स्वयं बन जायगा। अथवा जो व्यक्ति कार्य-सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं, वे यह समझ कर कि कार्य स्वयं हो जायगा, प्रयत्न करना छोड़ देंगे। इस प्रकार निष्क्रियत्व का दोष उपस्थित होगा और स्वयं कार्य होता तो देखा भी नहीं जाता। इससे बौद्धमत की निरर्थकता पूरी तरह सिद्ध होती है।

नाभाव उपलब्धेः ।। २८ ।।

सूत्रार्थ—नाभाव=बाह्य पदार्थ का अभाव नहीं है, क्योंकि उपलब्धेः=वस्तु की उपलब्धि होती है।

व्याख्या—वस्तु की उपलब्धि हो तो बाह्य पदार्थ का अभाव नहीं मान सकते। क्योंकि वन्ध्या के पुत्र नहीं होता, इसलिये 'यह वन्ध्या-पुत्र है'

ऐसा नहीं कहा जा सकता। खरगोश के सींग होते नहीं तो दिखाई कहाँ से पड़ेंगे ? इस प्रकार विज्ञानवादी बौद्धों का योगाचार मत, जिसमें प्रतीत होने वाले बाह्य पदार्थ का अभाव माना जाता है, निरर्थक है।

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ—च=और, वैधर्म्यात्=स्वप्न-ज्ञान और जाग्रत-ज्ञान के धर्म-भेद से, स्वप्नादिवत्=स्वप्न आदि में उपलब्ध पदार्थ के समान (जाग्रत अवस्था में उपलब्ध पदार्थ), न=मिथ्या नहीं हैं।

व्याख्या—स्वप्न में दिखाई देने, प्राप्त होने और अनुभव में आने वाले पदार्थ एवं दृश्य जागने पर प्राप्त नहीं होते। इसके विपरीत जाग्रत् अवस्था के सभी सामान पास रहते हैं। इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत् दोनों अवस्थाओं के पदार्थ परस्पर विपरीत धर्म के हैं। इसलिये उपलब्धि मात्र से पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध न होने की बात निरर्थक है।

न भावोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—भावः=कल्पित वासना का भाव, न=सिद्ध नहीं होता, अनुपलब्धेः=क्योंकि वे बाह्य पदार्थों की उपलब्धि नहीं मानते।

व्याख्या—उपलब्ध वस्तु के संस्कार ही वासना के रूप में प्रकट होते हैं। पदार्थों का अस्तित्व न मानने पर उनकी उपलब्धि नहीं होगी और इस प्रकार वासना का अस्तित्व ही सिद्ध न होगा। इससे विज्ञान-का मत निरर्थक सिद्ध होता है।

क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ—क्षणिकत्वात्=वासना की आश्रयभूता बुद्धि के क्षणिक मानने से, च=भी (वासना का अस्तित्व-मान्य नहीं होता)

व्याख्या—उपलब्ध वस्तु से संस्कारित बुद्धि ही वासना का आधार है, उसे बौद्ध मत वाले क्षणिक कहते हैं। यदि उनका कहना ठीक मानें तो बुद्धि के अस्थिर होने से वासना का आधार क्षण भर में नष्ट हो जायगा और वासना भी अस्तित्वहीन हो जायेगी। इससे सिद्ध हुआ कि बौद्ध मत उपादेय नहीं है।

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ—सर्वथा=हर प्रकार से, अनुपपत्तेः=असङ्गति दिखाई देने के कारण, च=भी (इसकी उपादेयता सिद्ध नहीं होती)।

व्याख्या—बौद्ध मत वालों की सब बातों में असंगति ही दिखाई देती है। भाव और अभाव यह दोनों अवस्थाएं 'सत्' वस्तु की हैं। यदि सबको शून्य कहें तो उसका अर्थ सबको 'सत्' कहना ही होगा। फिर जिस प्रमाण से शून्यत्व सिद्ध करते हैं, वह भी शून्य सिद्ध होने से, शून्यवाद की ही हानि होगी। इस प्रकार बौद्धों का शून्यवाद निरर्थक है।

नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ—एकस्मिन्=एक पदार्थ में, न=परस्पर विरुद्ध धर्म नहीं होते, क्योंकि, असम्भवात्=यह सम्भव नहीं है।

व्याख्या—अब जैन मत की मान्यताओं का निराकरण उपस्थित होता है। जैन मत में पदार्थ के दो भेद हैं—जीव और अजीव। जीव को चेतन, देह-परिमाणक और अवयव सहित कहा है तथा अजीव के पाँच लक्षण कहे हैं-धर्म, अधर्म, पुद्गल, काल और आकाश। गति हेतु को धर्म और स्थिति हेतु को अधर्म माना है, यह अधर्म व्यापक है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पुद्गल है, जो कि परमाणु रूप और उसके संघात रूप होने से दो प्रकार का कहा है। वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, तनु और

भुवनादि को संघात कहते हैं। पृथ्वी आदि के कारणभूत परमाणु एक प्रकार के हैं। पृथ्वी प्रभृति विशेष है। निखिल विश्व द्रव्यात्मक है। उनमें अणुओं से पृथक् अस्तिकाय कहलाते हैं। उनके द्वारा मोक्ष के लिए उपयुक्त सात पदार्थों का वर्णन मिलता है और सप्त-भंगी न्याय की मान्यता की गई है जो इस प्रकार हैं—(१) पदार्थ की सत्ता का होना, (२) प्रकारान्तर से पदार्थ-सत्ता का न होना, (३) पदार्थ की सत्ता का होना या न होना, (४) वस्तु-स्वरूप का वर्णन के योग्य होना या न होना, (५) वस्तु की सत्ता का होना परन्तु वर्णन योग्य न होना, (६) वस्तु की सत्ता का न भी होना और उसका वर्णन योग्य भी न होना और (७) वस्तु की सत्ता होना, न भी होना अथवा उसका वर्णन योग्य भी न होना। इससे सभी पदार्थों में उनके द्वारा विकल्प होना सिद्ध होता है। सत् पदार्थ में प्रकार भेद तो सम्भव है, परन्तु उसमें विरोधी धर्म का होना सम्भव नहीं है। जिस वस्तु का अभाव है, वह विद्यमान कहाँ से होगी ? अथवा जो वस्तु है उसके अभाव का प्रश्न ही कैसा ? इससे जैन मत वालों की अस्थिर बुद्धि का ज्ञान हो जाता है, जिससे उनके मत की निरर्थकता सिद्ध होती है।

एवं चात्माकार्त्स्न्यम् ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थ—एवं च=इसी तरह, आत्माकार्त्स्न्यम्=आत्मा को अपरिपूर्ण मानना भी मिथ्या है।

व्याख्या—आत्मा को अपरिपूर्ण कहना अथवा देह के समान परिमाण वाला बताना भी युक्ति संगत नहीं है। यदि आत्मा मनुष्य देह के माप वाला हो तो कभी चींटी का देह प्राप्त करने पर उसमें कैसे प्रवेश करेगा ? यदि एक ही माप वाला है तो क्या बालक के देह में रहने पर छोटा और युवा होने पर बड़ा हो जाता है ? जब किसी के शरीर का कोई अंग कट जाता है तो उससे आत्मा कट जाता है क्या ?

इससे सिद्ध होता है कि आत्मा को एकदेशीय अथवा देहाकार मानने की युक्ति निरर्थक और अव्यवहारिक है।

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ।। ३५ ।।

सूत्रार्थ—च=और, पर्यायात्=आत्मा को घटने बढ़ने वाला मानलें तो, अपि=भी, अविरोध=विरोध का समाधान, न=नहीं होता, क्योंकि, विकारादिभ्यः—उससे विकार आदि दोषों का आरोप होगा।

व्याख्या—यदि यह मानलें कि आत्मा शरीर के परिमाण के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है तो इससे आत्मा में अवयवत्व, मरण-शीलता आदि विकार उपस्थित होते हैं। क्योंकि घटने-बढ़ने वाला पदार्थ अविनाशी नहीं होता और जिसके अवयव होते हैं उसे विकार-रहित भी नहीं मान सकते। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा अवयवहीन और नित्य है, वह कभी घटता-बढ़ता नहीं। जैन मतावलम्बियों की उपर्युक्त मान्यता निरर्थक है।

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ।। ३६ ।।

सूत्रार्थ—च=और, अन्त्यावस्थितेः=मरणकाल में जो परिमाण है, वह नित्य माना गया है, इसलिए, उभयनित्यत्वात्=प्रारम्भिक और बीच की अवस्था में जो परिमाण रहा है, उसका भी नित्य होना मान्य है और उसमें, अविशेषः=कोई विशेषता नहीं रहती।

व्याख्या—मोक्ष काल में जीव का जो माप है उनकी नित्य स्थिति का जैनियों ने प्रतिपादन किया है। अर्थात् वह एक-सा रहना बताया है। इस प्रकार आदि और मध्य की अवस्था वाला परिमाण भी नित्य मान लिया गया। जो नित्य है, वह घटता-बढ़ता नहीं और उसे छोटी या बड़ी जिन योनियों में जाना होता है, उन सब में समान परिमाण ही

रहता है। योनि के अनुसार माप में कोई विशेषता नहीं होती। इससे परस्पर विरोधी मान्यताएँ होने से जैन धर्म की उपादेयता सिद्ध नहीं होती।

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ—पत्युः=पशुपति का मत भी, असामञ्जस्यात्=परस्पर विरुद्ध मान्यताओं के कारण युक्तिसंगत नहीं है।

व्याख्या—पशुपति के मत में कारण, कार्य, योग, विधि और दुःखान्त यह पाँच पदार्थ हैं। शैव, सौर, गाणपत्य—यह सब पाशुपत सम्प्रदाय है। पशुपति मत में छः मुद्राएँ कण्ठी, रुचिका, कुण्डल, जटा, भस्म और यज्ञोपवीत हैं। इनके द्वारा अपने देह को चिह्नित कर लेने वाले को पुनर्जन्म नहीं लेना होता। वे शङ्कर को निमित्त कारण और प्रधान को उपादान कारण मानते हैं। परन्तु, यह सब बातें परस्पर विरुद्ध धर्म वाली और वेद के विरुद्ध होने से भी मान्य नहीं हैं।

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थ—सम्बन्धानुपपत्तेः=सम्बन्ध की सङ्गति न होने से, च=भी युक्तिसंगत नहीं है।

व्याख्या—पशुपति मत के अनुसार यदि ईश्वर को निमित्त कारण मानें तो उपादान के साथ उसका कैसे सम्बन्ध होगा, यह जानना आवश्यक है। देहधारी कुम्भकार आदि घट आदि कार्य के निमित्त मिट्टी आदि साधनों से अपना संबन्ध करते हैं, परन्तु ईश्वर के निराकार होने के कारण उसका जड़ प्रकृति से सम्बन्ध नहीं हो सकता, इसलिए वह सृष्टि रचना भी नहीं कर सकता। पाशुपतों का यह मत नितान्त भ्रममूलक है। वेदों के अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तथा वह स्वयं ही निमित्त कारण और उपादान कारण भी है। पाशुपतों की मान्यता वेद और युक्ति दोनों के ही विरुद्ध होने से अमान्य और अनुपादेय है।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ।। ३९ ।।

सूत्रार्थ—अधिष्ठानानुपपत्तेः=अधिष्ठान की अनुपपत्ति सिद्ध होने से, च=भी, (ईश्वर को केवल निमित्त कारण नहीं कह सकते)।

व्याख्या—वे मानते हैं कि जैसे मिट्टी आदि सामान और साधन का अधिष्ठाता होने पर कुंभकार घट आदि कार्य करता है, वैसे ही प्रधान आदि साधनों का अधिष्ठाता होने पर ईश्वर भी रचना कार्य करता है। परन्तु, ऐसा मानना ठीक नहीं है। कुंभकार शरीरधारी है और ईश्वर रूपादि से रहित निराकार है। कुंभकार के पास मिट्टी आदि सामान-साधन हैं। इसके विपरीत प्रधान आदि मिट्टी आदि के समान रूप वाले नहीं हैं। इस प्रकार ईश्वर प्रधान का अधिष्ठाता नहीं हो सकता।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ।। ४० ।।

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, करणवत्=इन्द्रिय आदि करणों से युक्त देहधारी के समान मानलें तो, न=ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि, भोगादिभ्यः=ऐसा मानने पर वह भोगादि का भोक्ता मान लिया जायगा।

व्याख्या—यदि ऐसा कहें कि जैसे देह रहित आत्मा इन्द्रिय और शरीर का अधिष्ठाता होता है, वैसे ही ईश्वर प्रधान का अधिष्ठाता है, तो यह कहना भ्रममूलक है। क्योंकि ऐसा मानने से प्रधान के जन्म-मरण आदि दुःख-सुख रूप भोगों में पड़ने से ईश्वर भी भोक्ता हो जायगा और वह अविनाशी नहीं रहेगा। इस प्रकार उसका ईश्वरत्व भी नहीं रहेगा।

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ।। ४१ ।।

सूत्रार्थ—अन्तवत्त्वम्=ईश्वर को अन्त वाला, वा=अथवा, असर्वज्ञता=सर्वज्ञ न होने का प्रसङ्ग आ जायगा।

व्याख्या—उपरोक्त प्रकार मानने से ईश्वर को मरणधर्मा मानना होगा और तब उसके सर्वज्ञ न होने का दोष उपस्थित होगा। क्योंकि जन्म-मरणयुक्त एवं कर्म के अधीन रहने वाला कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इस प्रकार पाशुपत आदि का मत वेद-विरुद्ध एवं दोषपूर्ण सिद्ध होता है।

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थ—उत्पत्ति=जीव की उत्पत्ति, असम्भवात्=सम्भव न होने से वेद-विरुद्ध मान्यता है।

व्याख्या—पाञ्चरात्र आगम के अनुसार जगत् के कारण 'वासुदेव' हैं, वे ही निमित्त और उपादान कारण हैं। उनसे 'संकर्षण' नामक जीव उत्पन्न हुआ, उनसे 'प्रद्युम्न' नामक मन और मन से 'अनिरुद्ध' नामक अहंकार की उत्पत्ति हुई। इस कथन में भगवान् को जगत् कारण आदि कहना तो श्रुति-सङ्गत है। परन्तु, जीव की उत्पत्ति की बात वेद-विरुद्ध है। क्योंकि जीव जन्म-मरण-रहित और नित्य है। उत्पन्न होने वाली वस्तु का मरण निश्चित है, वह कभी नित्य नहीं रह सकती। इस प्रकार जीव की बद्ध-मुक्त अवस्था आदि का वर्णन भी निरर्थक हो जायगा।

न च कर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थ—च=तथा, कर्त्तुः=कर्त्ता जीव से, करणम्=मन आदि की उत्पत्ति, न=नहीं हो सकती।

व्याख्या—जैसे वसुदेवजी से सङ्कर्षण नामक जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही सङ्कर्षण नाम से कहे गए जीव द्वारा 'प्रद्युम्न' नामक मन, उससे 'अनिरुद्ध' नाम से कहे गए अहंकार की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। क्योंकि 'जीव' चेतन है और 'मन' करण है।

इसलिए कर्त्ता से करण की उत्पत्ति होना नितान्त असम्भव है। इस प्रकार यह मान्यता भी असङ्गत सिद्ध हुई।

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ।। ४४ ।

सूत्रार्थ- वा=अथवा, विज्ञानादिभावे=ईश्वर में सर्व विज्ञान और सर्वव्यापकता आदि भाव मानलें तो, तदप्रतिषेधः=उसका प्रतिषेध (निषेध) नहीं है।

व्याख्या—पुरुष को नित्य, ज्ञान सर्व व्याप्तव्य आदि गुणों से विशिष्ट कहना ब्रह्म भाव में आता है और ईश्वर में सर्व विज्ञान और सर्वव्यापकता आदि गुणों का होना वेदों ने भी बताया है। इस प्रकार के गुण से युक्त 'वासुदेव', ब्रह्म ही हैं। परन्तु, संकर्षण आदि की उत्पत्ति जिस प्रकार कही गई है, वह ग्राह्य नहीं है। इन तीनों को अनन्य भाव से भगवान् के अङ्गभूत मान कर अंश रूप से उन-उन रूपों में प्रकट होना मानने से 'अजायमानो बहुधा विजायते' के अनुसार अनेक रूपों में प्रकट होना कहा जा सकता है।

विप्रतिषेधाच्च ।। ४५ ।।

सूत्रार्थ—च=और, विप्रतिषेधात्=परस्पर विरुद्ध प्रसङ्ग आने से भी जीव की उत्पत्ति मान्य नहीं है।

व्याख्या—भागवत में भी परस्पर विरोधी बातें होने से यह मानना उचित है कि जीव नित्य है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती। "व्याप्तिरूपेण सम्बन्धस्तस्याश्च पुरुषस्य च, स ह्यनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः" के अनुसार प्रकृति और पुरुष का पारस्परिक व्याप्ति रूप सम्बन्ध है, वह पुरुष परमार्थ स्वरूप, अनादि और अनन्त है।

।। द्वितीयः पादः समाप्तः ।।

तृतीयः पादः

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ=वियत्=आकाश, न=उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि, अश्रुतेः=उसकी उत्पत्ति की बात सुनी नहीं जाती।

व्याख्या—आकाश नित्य है, उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्रुति का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। छांदोग्य में भी जगत् की उत्पत्ति में तेज, जल, अन्नादि की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है, परन्तु उसमें आकाश की उत्पत्ति नहीं कही है। इससे सिद्ध होता है कि आकाश नित्य है।

अस्ति तु ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, अस्ति=आकाश की उत्पत्ति का वर्णन अन्य श्रुति में है।

व्याख्या—'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' तैत्तरीयोपनिषद् के इस कथन के अनुसार 'ब्रह्म से आकाश की उत्पत्ति होना' कहा गया है। छांदोग्य में न होने पर भी इस श्रुति में होने से आकाश को नित्य मानना उचित नहीं है।

गौण्यसम्भवात् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—गौणी=इस श्रुति के गौण होने से, असम्भवात्=आकाश की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

व्याख्या—अन्य श्रुतियों में आकाश की उत्पत्ति न कहने से और आकाश के अवयव रहित होने से भी आकाश नित्य है। उसकी उत्पत्ति बताने वाली इस श्रुति को गौण समझना ही उचित है।

शब्दाच्च ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—शब्दात्=शब्द के प्रमाण से, च=भी (आकाश का नित्यत्व सिद्ध है)।

व्याख्या—आकाश के नित्य होने के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख भी मिलता है। 'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्' इस बृहदारण्यक श्रुति (२।३।३) के अनुसार 'वायु और आकाश दोनों अमर हैं' और तैत्तरीयक में ही 'आकाश शरीरं ब्रह्म' कहकर आकाश को ब्रह्म का देह होना बताया है। इस प्रकार आकाश का उत्पन्न होना सिद्ध नहीं होता।

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—च=और, एकस्य=किसी एक के द्वारा, ब्रह्म-शब्दवत्=ब्रह्मशब्द के समान, स्यात्=गौण रूप से भी आकाश का उत्पन्न होना कहा जा सकता है।

व्याख्या—तैत्तरीयकोपनिषद् में 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो-ब्रह्म' अर्थात् 'तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है' कहकर एक शब्द से ही दो अर्थ होने की शंका उपस्थित कर दी है। 'ब्रह्म विज्ञान का साधन तप' कहने में प्रारम्भिक 'ब्रह्म' शब्द ब्रह्म का वाचक है और 'तप ब्रह्म है' ऐसा कहने से 'ब्रह्म' को तप का विशेषण बना कर गौण अर्थ सूचक कर दिया है। ऐसे ही मुण्डकोपनिषद् में 'तस्मादेतद् ब्रह्म' कह कर 'ब्रह्म' को गौण अर्थ में प्रयुक्त किया है। तो इसी प्रकार किसी विद्वान् के द्वारा गौण अर्थों में ही आकाश का उत्पन्न होना भी कहा जा सकता है।

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—अव्यतिरेकात=ब्रह्म से आकाश को भिन्न न मानने से ही, प्रतिज्ञा की हानि से बच सकते हैं, शब्देभ्यः=शब्दों के द्वारा भी यह सिद्ध है।

व्याख्या– ब्रह्म को आकाश से भिन्न न मानना श्रुति सम्मत भी है। ब्रह्म से भिन्न आकाश आदि को मानें तो प्रतिज्ञा की हानि सम्भव है। ब्रह्म सबका उपादान है और उसी के ज्ञान से सब का ज्ञान होता है। 'सृष्टि के पूर्व एक मात्र ब्रह्म' होने के कारण सम्पूर्ण वस्तुओ को ब्रह्मात्मक रूप कहने से, आकाश की उत्पत्ति स्वीकार भी कर ले तो, आकाश उस ब्रह्म का ही कार्य होना सिद्ध होता है और इस प्रकार से प्रतिज्ञा की हानि भी नही होती।

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, लोकवत्=लोक के व्यवहार के समान-यावद् विकारम्=विकार मात्र तक, विभागः=भूत-विभागादि ब्रह्म की ही रचना है।

व्याख्या—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' से सभी कार्य ब्रह्म के होना सिद्ध है। जैसे लोक में किसी के पुत्रों का निर्देश करके वह देते हैं कि यह अमुक के पुत्र है और एक की उत्पत्ति बता देने से ही सब की उत्पत्ति उसी प्रकार हुई होगी, यह समझ लिया जाता है, वैसे ही सब कार्य मात्र को ब्रह्म का कार्य कहा गया है। जिसकी उत्पत्ति कह दी गई उन्हीं के समान न कहे हुओं की उत्पत्ति भी समझनी चाहिए। तेज आदी की सृष्टि के समान ही आकाश और वायु का ब्रह्म से उत्पन्न होना और उनका अमर होना कहा गया है।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—एतेन=इस उपरोक्त कथन से, मातरिश्वा=वायु की उत्पत्ति भी, व्याख्यातः=बता दी गई।

व्याख्या—जिन प्रमाणों और युक्तियों से आकाश का उत्पन्न होना बताया गया है, उन्हीं प्रमाणों से वायु का उत्पन्न होना भी सिद्ध होगया। उसके सम्बन्ध में पृथक-पृथक से कुछ कहने की आवश्कता प्रतीत नहीं होती।

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः । ९ ।

सूत्रार्थ—सतः='सत्' शब्द वाच्य ब्रह्म के सिवा, तु=तो (किसी अन्य का उत्पन्न न होना) असम्भवः=सम्भव नहीं है, क्योंकि, अनुपपत्तेः=यह प्रमाणों से सिद्ध है।

व्याख्या—ब्रह्म ही अजन्मा और नित्य है, वही जगत् का परम-कारण है, उसके सिवाय और कोई भी ऐसा नहीं है जो जन्म-मरण के चक्र से बचा हो। यही बात श्रुतियों के प्रमाणों और युक्तियों से भी सिद्ध होती है।

तेजोऽतस्तथा ह्याह ।। १० ।।

सूत्रार्थ—तेजः=तेज की उत्पत्ति, अतः=इस प्रकार (वायु से) हुई है, तथाहि=ऐसा ही, आह=कहा गया है।

व्याख्या—'तेज' वायु के द्वारा उत्पन्न हुआ है, 'वायोरग्निः' इस तैत्तरीयक श्रुति से भी वायु से तेज की उत्पत्ति सिद्ध होती है। अन्य शास्त्रों में भी इसी प्रकार माना गया है।

आपः ।। ११ ।।

सूत्रार्थ—आपः=जल की उत्पत्ति तेज से हुई है।

व्याख्या—श्रुति प्रमाणों से तेज के द्वारा जल का उत्पन्न होना सिद्ध होता है। 'अग्नेरापः' के अनुसार अग्नि से जल का उत्पन्न होना कहा है। इस प्रकार जल तेज से उत्पन्न हुआ।

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ।। १२ ।।

सूत्रार्थ—अधिकार रूप=अधिकार अथवा प्रकरण से और रूप से, शब्दान्तरेभ्यः=शब्द के अन्तर से, पृथिवी=पृथिवी की उत्पत्ति कही गई है।

व्याख्या—पृथिवी की उत्पत्ति जल से कही गई है। यहाँ शंका होगी कि "ता आप ऐक्षन्त बह्वय स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त" अर्थात् 'उस अप-तत्व ने इच्छा की कि हम बहुत हों, प्रजा उत्पन्न करें, तब उन्होंने अन्न की रचना की।' इससे अन्न का उत्पन्न होना कहा गया है, पृथिवी की उत्पत्ति कहाँ कही? इसका समाधान यह है कि अन्न को पृथिवी मानने के लिए यहाँ तीन कारण प्रस्तुत करते हैं—(१) अधिकार (२) रूप और (३) शब्दान्तर। अधिकार का अर्थ है प्रकरण—यह पंचभूतों का प्रकरण है और पृथिवी महाभूतों में है, अन्न नहीं है। रूप 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' से पृथिवी का कालापन लिए हुए बताया है, परन्तु अन्न कालापन लिये नहीं होता। अब शब्दान्तर पर कहते हैं—'अद्भ्य: पृथिवी, पृथिव्या ओषधय:, ओषधिभ्योन्नम्' से ओषधि और ओषधि से अन्न होना कहा है, जल से सीधे अन्न पैदा होने की बात नहीं कही है। इन सब से सिद्ध है कि यहाँ 'अन्न' शब्द से 'पृथिवी' ही कही गई है।

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ।। १३ ।।

सूत्रार्थ—तदभिध्यानात्=तत्व सृष्टि के चिन्तनपूर्वक कथन से, एव=ही, तु=तो, सः=उस परमात्मा द्वारा ही सबका रचा जाना सिद्ध है, क्योंकि, तल्लिङ्गात्=लक्षण से भी यह ऐसा ही है।

व्याख्या—इस प्रकरण में उत्पत्ति-क्रम की बात कही गई है। सम्पूर्ण विश्व की रचना ब्रह्म के द्वारा सम्भव है। चिन्तन रूप कर्म भी, जड़ के द्वारा होना सम्भव नहीं, चेतन ब्रह्म द्वारा ही सम्भव है। उत्पत्ति क्रम के अनुसार एक तत्व से दूसरे तत्व की उत्पत्ति बताई गई है। स्वतंत्र रूप से कोई भी तत्व कारण नहीं बताया गया। इससे यह सिद्ध होता है कि सब का उत्पादक एक मात्र ब्रह्म ही है।

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ।। १४ ।।

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, अतः=इस प्रकार उत्पत्ति क्रम से, क्रमः=प्रलय-क्रम, विपर्ययेण=विपरीत होता है, च=तथा, उपपद्यते=ऐसा ही होना ठीक है।

व्याख्या—जगत् की रचना का जो क्रम कहा गया है, उसके विपरीत क्रम प्रलय काल में होता है। सृष्टि-काल में ब्रह्म से आकाश, वायु, तेज, जल पृथिवी आदि की उत्पत्ति होती है और प्रलय में यह सभी तत्व उसके ठीक विपरीत क्रम से अपने-अपने कारणों में विलीन होते हैं। युक्ति और प्रमाण, दोनों प्रकार से ऐसा ही होना चाहिए।

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ।। १५ ।

सूत्रार्थ—चेत्-यदि कहो कि, विज्ञानमनसी-इन्द्रिय और मन, क्रमेण=क्रम पूर्वक, अन्तरा=ब्रह्म और भूतों के अन्तर में रहने चाहिए क्योंकि, ताल्लिंगात्=ऐसा ही प्रमाण मिलता है तो, इति न=ऐसा नहीं है, क्योंकि, अविशेषात्=इस प्रकार क्रम का कोई विशिष्ट वर्णन नहीं मिलता।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद (२।१।३) "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, एवं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।' अर्थात् 'इसी ब्रह्म से प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल और जगत् को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न हुई' के अनुसार ब्रह्म से प्राण और मन सहित इन्द्रियों की उत्पत्ति पंचभूतों से पहले कही है, इस प्रकार प्राण और मन सहित इन्द्रियों की उत्पत्ति माननी चाहिए। परन्तु, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस वर्णन में किसी क्रम विशेष को नहीं कहा गया है। यह बात उक्त श्रुति के पूरे प्रकरण को देखने से सिद्ध होता है कि प्राण और मन सहित इन्द्रियों की उत्पत्ति भी ब्रह्म से ही

होती है। श्रुतियों ने सृष्टि रचना का वर्णन कल्प-भेद से ही विभिन्न क्रम से किया है, इसलिए भी कोई एक क्रम-विशेष इस पक्ष में मान्य नहीं हो सकता।

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ– तु=परन्तु, चराचरव्यपाश्रयः=चर और अचर देह के आश्रित, तद्व्यपदेशः=उन जीवों का उत्पत्ति प्रलयादि कथन, भाक्तः=गौण, स्यात्=हो सकता है, क्योंकि, तद्भावभावित्वात्=वह उन-उन देहों के भाव से भावित है।

व्याख्या—जो जीवात्मा चर और अचर शरीरों के आश्रय में है, वे ब्रह्म के अंश रूप जन्म-मरण से रहित अविनाशी हैं। परन्तु, यह अपने परम्परागत कर्मों से स्थावर और जङ्गम रूप देह धारण करते हैं। श्रुतियों में उनके देह-धारण और मरण को लेकर गौण रूप से उत्पत्ति और विनाश कहा है। सृष्टि के आदि में जीवों का प्रकट होना ही उत्पन्न होना है और प्रलय में लीन होना ही विनाश होना। वैसे आत्मा अमर है, वह कभी मरता नहीं जिस शरीर को प्राप्त होता है, उसी के रूप में भावित हो जाता है।

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—आत्मा=जीवात्मा, न=उत्पन्न होता या मरता नहीं है, क्योंकि, अश्रुतेः=श्रुति में भी ऐसा कथन नहीं मिलता, च=तथा, ताभ्यः=उन श्रुतियों के द्वारा ही, नित्यत्वात्=इसको अविनाशी होना कहा गया है।

व्याख्या—श्रुतियों में कहीं भी जीवात्मा के उत्पन्न होने या मरने की बात नहीं मिलती। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।८) में "सवा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः" अर्थात् 'यह जीवात्मा

शरीर को प्राप्त होने से जन्म लेता और शरीर से निकलने के कारण मर जाता' कहा जाता है। इसी प्रकार छान्दोग्य (६।११।३) में "जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवोम्रियते" अर्थात् 'जीव के निकलने पर शरीर ही मरता है, जीवात्मा स्वयं नहीं मरता'। इससे सब जीवात्मा का अविनाशी होना सिद्ध है।

ज्ञोऽत एव ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—अतः=इस कारण, एव=ही, ज्ञः=ज्ञाता है।

व्याख्या—वह जीवात्मा जन्म-मरण से रहित होने के कारण ही चेतन और ज्ञाता भी है। परम्परागत संस्कारों के कारण जब वह जन्म लेता है, तब बाल-रूप में स्तन-पान आदि में स्वयं प्रवृत्त हो जाता है, इससे ज्ञात होता है कि उसे पूर्व-जन्म का अभ्यास रहता है और इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा अविनाशी होने के कारण ज्ञाता भी है।

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—उत्क्रान्ति=देह से निकलना, गति=अन्य देह में जाना, आगतीनाम्=वहाँ से लौटना, यह सब श्रुतियों में कहा गया है।

व्याख्या—शरीर त्याग करना तो प्रत्यक्ष देखा ही जाता है, शरीर त्याग के बाद अन्य देह में जाना और फिर उसे छोड़ना श्रुतियों द्वारा कहा गया है। इस लोक का त्याग कर सत्कर्मवश ऊर्ध्व लोकों में जाना या मोक्ष होना अथवा उन लोकों से लौटने का भी वर्णन मिलता है। प्रश्नोपनिषद् में "स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते" अर्थात् 'स्वर्गलोक में ऐश्वर्य भोग कर पुनः मर्त्यलोक में लौटना' कहा है। इससे जीवात्मा का अविनाशी होना सिद्ध होता है।

स्वात्मना चोत्तरयोः ।। २० ।।

सूत्रार्थ—उत्तरयोः=आवागमन के रूप में कही गई दोनों प्रकार की सिद्धि, स्वात्मना=अपने स्वरूप से, च=ही हो सकती हैं।

व्याख्या—आवागमन रूप दोनों क्रियायें अपने स्वरूप से ही सिद्ध होती हैं। जो परलोक गमन करेगा, वही लौटेगा, वहाँ अन्य रूप के द्वारा क्रिया की सिद्धि नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि देह नाशवान् है, आत्मा अविनाशी है। देह के नष्ट होने से आत्मा नष्ट नहीं होती।

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।। २१ ।।

सूत्रार्थ—चेत=यदि कहो कि, अणुः=जीवात्मा अणु, न=नहीं है, अतच्छ्रुतेः=क्योंकि श्रुति में ऐसा नहीं कहा है तो, इति न=ऐसा कहना सङ्गत नहीं है क्योंकि, इतराधिकारात्=वहाँ जीव से भिन्न अर्थात् ब्रह्म का प्रकरण है।

व्याख्या—श्रुति वाक्य है कि "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" अर्थात् 'प्राणों में जो यह विज्ञानमय आत्मा है, वही यह अजन्मा महान् आत्मा है।' इस वर्णन से यदि यह कहें कि जीवात्मा अणु नहीं, व्यापक है, तो यह कहना युक्तिसङ्गत नहीं है। क्योंकि यह श्रुति ब्रह्म प्रकरण होने से 'आत्मा' शब्द को यहाँ जीवात्मावाची नहीं मान सकते।

स्वशब्दानुमानाभ्यां च ।। २२ ।।

सूत्रार्थ—स्वशब्दानुमानाभ्याम्=श्रुति में अणु वाचक शब्द होने से तथा अनुमान से, च=भी जीव का अणु रूप मान्य होता है।

व्याख्या—जीवात्मा को स्वविषयक शब्द में 'अणु' कथन किया

गया है। मुण्डकोपनिषद् (३।१।९) में "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" कह कर अणु परिमाणु वाले आत्मा को चित्त से जानने योग्य कहा है। श्वेताश्वतर में भी 'बाल के अग्र भाग के सौ भाग कर, उसके भाग के भी सौ भाग करके, उस एक भाग का परिमाण' जीवात्मा को कहा है। इससे भी जीवात्मा का अणु होना सिद्ध है।

अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—च=और, चन्दनवत्=चन्दन की प्रवाहमान गंध जैसे सब ओर व्याप्त होती है, वैसे ही सब शरीर में व्याप्त होने वाला आत्मा सुख-दुःख की अनुभूति वाला हो जाता है इसमें, अविरोधः=कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—जैसे एक स्थान पर रक्खा हुआ चन्दन अपने गन्ध-रूप गुण से सब जगह व्याप्त हो जाता है, वैसे ही देह के एक स्थान-हृदय में स्थित हुआ आत्मा भी अपने विज्ञान रूपी गुण के कारण संपूर्ण देह में व्याप्त हो जाता है और देह के दुःख-सुख रूपी कर्म-भोगों की अनुभूति करता है।

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, अवस्थिति वैशेष्यात्=चन्दन से आत्मा की स्थिति विशिष्ट है तो, इति न=यह बात नहीं है, हि=क्योंकि, हृदि=हृदय में, अभ्युपगमात्=उसका स्थित रहना माना गया है।

व्याख्या—यदि ऐसा कहा जाय कि चन्दन की स्थिति में और आत्मा की स्थिति में अन्तर है, क्योंकि चन्दन तो प्रत्यक्ष एक स्थान में है, परन्तु आत्मा का एक स्थान में होना प्रत्यक्ष नहीं है तो ऐसा कहना इसलिए ठीक नहीं है कि आत्मा का हृदय में रहना श्रुति ने कहा है।

'हृद्येष आत्मा' अर्थात् 'यह आत्मा हृदय में है' ऐसा मानने पर उसका एक देश में स्थित रहना सिद्ध हो जाता है।

गुणाद्वा लोकवत् ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, गुणात्=अणु परिमाण वाले आत्मा का देह को चेतन गुण से सम्पन्न करना सम्भव है, लोकवत्=लोक में ऐसा देखते भी हैं।

व्याख्या—जैसे लोक में एक स्थानीय मणि का प्रकाश फैलता है, वैसे ही जीवात्मा का गुण चेतनत्व समस्त देह में फैल जाता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा देह से भिन्न विज्ञान स्वरूप और अविनाशी है।

व्यतिरेको गन्धवत् ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—गन्धवत्=गन्ध के समान, व्यतिरेकः=गुण का गुणी से पृथक् होना सम्भव है।

व्याख्या—जैसे पुष्प का गन्ध गुण पुष्प से दूर भी प्रतीत होता है, वैसे ही जीवात्मा का चेतन गुण, हृदय से दूर भी अर्थात् देह के सब अवयवों में व्याप्त होता है। इस प्रकार गुण का गुणी से दूर होना देखा जाता है।

तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—तथा च=ऐसा ही, दर्शयति=श्रुति दिखाती है।

व्याख्या—श्रुति भी इस बात का अनुमोदन करती है कि गुणी का गुण उससे दूर तक व्याप्त रहता है। छान्दोग्य (८।८।१) "आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः" के अनुसार जीवात्मा का चेतन गुण रोमों और नखाग्रों में भी माना गया है। इस प्रकार भी आत्मा का अणु परिमाण वाला होना सिद्ध होता है।

पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ=पृथक्=ज्ञाता से ज्ञान का पृथक्, उपदेशात्=उपदेश होने से भी जीव का नित्य ज्ञान सिद्ध है।

व्याख्या—जीव का धर्मभूत ज्ञान नित्य है। मन आत्मा से भिन्न है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि मन और आत्मा की सङ्गति से ज्ञान प्रकट होता है। क्योंकि मन और आत्मा दोनों ही अवयवहीन हैं और दोनों अवयवहीन वस्तुओं का संयोग सम्भव नहीं है। ब्रह्म से विमुख रहने के कारण यह ज्ञान छुपा रहता है और ब्रह्म का चिन्तन करने से ज्ञान का परदा उठ जाता है तब फिर ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। कुँआ खोदने से जल उत्पन्न होता हो, ऐसी बात नहीं है, किंतु जो जल पहिले से मिट्टी आदि से ढका रहता है, वह प्रकट हो जाता है। जीव का ज्ञान भी उसी प्रकार नित्य होने से प्रकट मात्र होता है, उत्पन्न नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञाता अर्थात् जीवात्मा का ज्ञान-गुण उससे भिन्न है।

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ—तद्व्यपदेशः=वह कथन, तु=तो, तद्गुणसारत्वात=उसके गुणों की प्रमुखता से है, प्राज्ञवत्=जैसे ब्रह्म को 'प्राज्ञ' कहा गया है।

व्याख्या—जैसे परम ब्रह्म को 'प्राज्ञ' कहा गया है, वैसे ही जीवात्मा के गुणों की प्रमुखता से उसे विज्ञानमय कहते हैं। 'प्राज्ञ' शब्द से यहाँ जीवात्मा का ही बोध समझना चाहिए। क्योंकि उस गुण की प्रमुखता वाले शब्द की भाँति ज्ञाता का ज्ञान रूप में कथन है। ब्रह्म जैसे ज्ञान की विशेषता से युक्त होने पर भी ज्ञान रूप में अभिहित होता है, वैसे ही जीव भी होता है। इस प्रकार ज्ञाता जीवात्मा ही ज्ञान स्वरूप में कहा गया है।

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—यावदात्मभावित्वात् = जब तक आत्मा का संबन्ध देह के साथ रहता है, तब तक वह देह के अनुरूप रहता है, इसलिए, च=भी, दोषः=इस कथन में दोष, न=नहीं है, तद्दर्शनात्=श्रुति भी यही दिखाती है।

व्याख्या – आत्मा जब देह में रहता है, तक तो उसके साथ सम्बन्ध रखता ही है, परन्तु देह से निकलने पर भी उसका सम्बन्ध देह से रहना माना गया है। एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते समय भी वह सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध रखता है। परलोक में भी उसका शरीर-सम्बन्ध से युक्त रहना कहा गया है, प्रलयकाल में और स्वप्न में भी वह देह-सम्बन्ध को नहीं त्यागता। इस प्रकार देह के साथ आत्मा का संबन्ध कहा जाने में कोई दोष नहीं है, यह बात श्रुति-वाक्यों द्वारा भी प्रमाणित है।

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ—पुंस्त्वादिवत्=पुरुषत्व आदि के समान, सतः= पहले से उपस्थित, अस्य=इसका, तु=ही, अभिव्यक्तियोगात्= प्रकट होने का अवसर होने पर उसका अस्तित्व प्रकट हो जाता है।

व्याख्या—यद्यपि प्रलयकाल में सभी तत्व अपने कारण रूप ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं, परन्तु, वे सब उसी परब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति के रूप में वहाँ विद्यमान रहते हैं। जैसे पुरुष का पुंसत्व उसमें बालकपन से ही विद्यमान रहता है, परन्तु, वह प्रकट नहीं होता और तरुणावस्था प्राप्त होने पर शक्ति-संयोग से प्रकट हो जाता है। वैसे ही, ब्रह्म में विलीन हुए सभी तत्व एवं जीव, रचना-काल में प्रकट हो जाते हैं।

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वान्यथा ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ—अन्यथा=जीव को अन्तःकरण के सम्बन्ध से विषय का ज्ञान होना न मानने पर, नित्योपलब्धि=सदा ही विषयों की प्राप्ति का, प्रसङ्गः=अवसर मिलता रहेगा, वा=अथवा, अन्यतर नियमः=इससे भिन्न नियम मानना होगा।

व्याख्या—यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि कभी जीवात्मा किसी विषय का अनुभव करता है, कभी नहीं करता, कभी किसी दृश्य को देखता है, कभी नहीं देखता। यदि उसका ध्यान किसी और विषय में मग्न हो तो खुली आँखों के सामने से ही कोई दृश्य निकले या उपस्थित हो, उसे वह नहीं देख पाता। यदि यह मानलें कि जीवात्मा अन्तःकरण के सम्बन्ध से विषयों का अनुभव नहीं करता तो उपरोक्त प्रत्यक्ष बात मिथ्या माननी होगी। जीवात्मा को अन्तःकरण के सम्बन्ध बिना, स्वयं ही विषयों का अनुभव करने वाला मानें तो जीवात्मा के नित्य होने के कारण अनुभूत विषय भी नित्य हो जायँगे और तब आत्मा की ग्राहक-शक्ति और विषय की ग्राह्य-शक्ति को प्रतिबन्धित करना होगा। ऐसा होने पर ग्राह्य-शक्ति के नियन्त्रित रहने पर विषय की प्राप्ति नहीं होगी और नियन्त्रण न रहने पर प्राप्ति होगी। 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' अर्थात् 'मन से देखता, मन से सुनता है' इस श्रुति से भी जीव का अन्तःकरण के सम्बन्ध को मानना सिद्ध होता है।

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ—शास्त्रार्थवत्त्वात्=शास्त्र के सार्थक होने से, कर्त्ता=यह जीवात्मा कर्त्ता कहा गया है।

व्याख्या—जीवात्मा शास्त्र के उपदेशों को सार्थक करता है अर्थात् उसके आदेशानुसार यज्ञादि कर्म करता है। यदि ऐसा कहें कि

'हन्ताचेन्मनुतेहन्तु' कहकर कठोपनिषद् ने जीव का कर्त्तव्य निषेध किया है तो इससे जीव कर्त्ता नहीं है। तो यह शङ्का व्यर्थ है, क्योंकि गुण को करने वाला नहीं मान सकते। 'मोक्ष की कामना वाला पुरुष यज्ञ करेगा' इसमें पुरुष ही कर्त्ता है, गुण कर्त्ता नहीं है।

विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थ-विहारोपदेशात्=श्रुतियों ने जो विहार का उपदेश दिया है, उससे भी जीवात्मा का कर्त्ता होना सिद्ध है।

व्याख्या—वह अमुक कार्य कर रहा है, वह चल रहा है, वह बैठा है, वह क्रीड़ा कर रहा है, इत्यादि वाक्यों से यहाँ जीवात्मा ही कर्त्ता सिद्ध होता है।

उपादानात् ॥ ३५ ॥

सूत्रार्थ—उपादानात्=इन्द्रियों के ग्रहण से भी जीवात्मा को कर्त्ता मानना उचित है।

व्याख्या—जीवात्मा इन्द्रियों को लेकर स्वप्न आदि अवस्था में विहार करता है और फिर उनके सहित ही शरीर में लौट आता है। "एदमेवैष एतान् प्राणान् गृहीत्वा" इत्यादि के अनुसार जीवात्मा का प्राण आदि के सहित गमन करना कहा है। इस प्रकार जीवात्मा गमन करता है तो वह कर्त्ता ही कहा जायगा।

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ—क्रियायाम्=क्रिया में, व्यपदेशात्=जीव का कर्त्ता होना श्रुति ने कहा है, च=इसलिए भी वह कर्त्ता है, चेत्=यदि, न=ऐसा न हो तो, निर्देशविपर्ययः=श्रुति की मान्यता से विरोध होगा।

व्याख्या—तैत्तरीयोपनिषद् (२।५।१) में "विज्ञानं यज्ञं तनुते

कर्माणि तनुतेऽपि च" अर्थात् 'विज्ञानमय जीवात्मा यज्ञ का विस्तार कर उसके लिए कर्मों को करता है' कहकर जीवात्मा का कर्त्तापन सिद्ध किया है। यदि 'विज्ञान' शब्द से जीव न मान कर 'बुद्धि' मानें तो उससे श्रुति की सङ्गति नहीं बैठेगी, क्योकि वहाँ जीवात्मा को ही 'विज्ञान' कहा गया है। यदि वहाँ विज्ञान शब्द को बुद्धिवाची प्रयुक्त किया जाता तो करण में तृतीया विभक्ति का प्रयोग करके 'विज्ञानेन' शब्द कहा जाता।

उपलब्धिवनिदयमः ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ—उपलब्धिवत्=सुख-दुःखादि की उपलब्धि के समान, अनियमः=कर्म में भी नियम नहीं है।

व्याख्या—जीवात्मा को सुख-दुःख की प्राप्ति होने में किसी प्रकार का नियम नहीं है। क्योंकि यह देखा जाता है कि बहुतों को अनुकूल भोग ही प्राप्त होते रहते हैं और बहुतों को भोग-प्राप्ति में प्रतिकूलता रहती है। किसी को कभी सुख और दुःख का चक्र लगा ही रहता है और ऐसा कोई नियम नहीं है कि जीवात्मा को निश्चित भोग प्राप्त होते रहें। इसी प्रकार कर्म करने में भी कोई नियम नहीं है। वह शुभ-अशुभ कैसा भी कर्म करे, उसके करने में वह स्वतन्त्र है। इससे भी जीवात्मा का कर्त्ता होना सिद्ध होता है।

शक्ति विपर्ययात् ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थ—शक्ति विपर्ययात्=शक्ति के विपरीत होने से स्वहित के कर्मों का आचरण होने का भी नियम नहीं है।

व्याख्या—जीवात्मा का कर्त्तापन परम्परागत संस्कारों और देह-इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध से है, स्वरूप से नहीं है। इसीलिए उसके निरन्तर अपने हित का ही कर्म कर सकना संभव नहीं है। किसी कर्म के करने में साधनों की आवश्यकता होती है और यह संभव नहीं कि मन

चाहे साधन, चाहे जब उपलब्ध हो जांय। इसलिए विपरीत साधन उपलब्ध होने पर अहितकर कार्यों का होना भी संभव होता है। इसलिए शक्ति के विपरीत कर्म करने में भी इच्छित फल प्राप्ति संभव नहीं है।

समाध्यभावाच्च॥ ३९ ॥

सूत्रार्थ—समाध्यभावात्=समाधि की अवस्था अर्थात् निमग्नता का अभाव होने से, च=भी हितकर कार्यों का ही होना संभव नहीं है।

व्याख्या—मनुष्य निमग्नता की अवस्था में कर्मों के सम्बन्ध में मननपूर्वक विचार कर सकता है। इसीलिए किसी गंभीर विषय पर विचार करने के लिए मनुष्य एकांत में बैठ कर समस्या का समाधान सोचते हैं। बिना विचारे जो कार्य किये जाते हैं, वे प्रायः अहितकर ही सिद्ध होते हैं।

यथा च तक्षोभयथा ॥ ४० ॥

सूत्रार्थ—च=तथा,यथा=जैसे,तक्षा=शिल्पी, उभयथा=दो प्रकार की स्थिति में (कभी कर्म करता है, कभी नहीं करता) रहता है, वैसे ही जीवात्मा भी रहता है।

व्याख्या—जैसे साधन सम्पन्न शिल्पी औजारों के द्वारा कभी अपने कार्य को करता है, कभी कार्य को छोड़ देता है, वैसे ही जीवात्मा भी जब अपने इन्द्रिय आदि साधनों से युक्त होता है, तब उनके द्वारा कार्य करता है, उस समय वह 'कर्त्ता' होता है, जब वह अपने कर्म को छोड़ देता है, तब उसका कर्त्तापन नहीं रहता। इस प्रकार जीवात्मा का कर्त्ता होना ही सिद्ध होता है।

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ—तु=किंतु, तत्=उस जीव का कर्त्तापन, परात्=

परब्रह्म से ही है, क्योंकि, श्रुतेः=श्रुतियाँ ऐसा ही कहती हैं।

व्याख्या—यहाँ एक शंका होती है जीव का कर्ता होना स्वयं-सिद्ध है, जैसे 'पुरुष ने मोक्ष कामना से यज्ञ किया' तो इसमें पुरुष स्वयं ही कर्त्ता हुआ। इस शंका का समाधान यह है कि जीवात्मा का कर्त्ता होना ब्रह्म से ही है। क्योंकि ब्रह्म ही जीवों के हृदय में प्रविष्ट होकर उन्हें कर्म में लगाते हैं। "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां" इत्यादि इस प्रकार के अनेक प्रमाण श्रुतियों में मिलते हैं।

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥४२॥

सूत्रार्थ-तु=किंतु,कृतप्रयत्नापेक्षः=जीव के परम्परागत संस्कारों की अपेक्षा से किये जाने वाले कर्मों में ब्रह्म ही शक्ति-साधन देता है और, विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः=शास्त्र में विधान किए हुए तथा निषेध किए हुए कर्म व्यर्थ नहीं होने से कर्मों की सिद्धि होती है।

व्याख्या—परमात्मा जीव के लिए जो साधना और शक्ति आदि देता है, वह जीव के पूर्व संस्कार और कर्मों के अनुसार ही देता है। मनुष्य में विवेक अथवा कुबुद्धि का आविर्भाव भी परमात्मा की प्रेरणा से ही होता है और वह प्रेरणा भी उसके पूर्व कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होती है। शास्त्र में जिन अच्छे कर्मों के करने की विधि कही गई है वे कर्म, अथवा जिन असंगत कर्मों का निषेध किया गया है ऐसे कर्म भी तभी सिद्ध हो सकते हैं, जब कि उन कर्मों को करने के लिए समुचित साधन उपलब्ध हों। यदि साधन आदि के अभाव में कर्म व्यर्थ हो जाते हैं, तो उनकी सिद्धि संभव नहीं है। इस प्रकार कर्मों की सिद्धि परमात्मा की प्रेरणा से होना ही सिद्ध होता है।

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादि-त्वमधीयत एके । ४३ ॥

सूत्रार्थ—नानाव्यपदेशात्=श्रुतियों में जीवात्मा को भिन्न

प्रकार का कहा गया होने से, च = तथा, अन्यथा=अन्य प्रकार से, अपि=भी, अंशः=जीव ब्रह्म का अंश है, क्योंकि, एके= एक शाखा वाले, दाशकितवादित्वम्=दास और सेवक आदि कह कर ब्रह्म को, अधीयते = पढ़ते हैं।

व्याख्या—श्रुतियों में जीवात्मा और परमात्मा को पृथक्-पृथक् कहा गया है, क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञ और ब्रह्म सर्वज्ञ है, जीव उसके नियम में बंधा है और वह जीव का नियामक है परन्तु ब्रह्म और जीवात्मा का एकत्व प्रतिपादित होने से, जीव ईश्वर का ही अंश है। सुवाल श्रुति में "उद्भव: सम्भवो दिव्यो देव एको नारायणो माता पिता भ्राता निवास: शरणं सुहृद्गतिर्नारायण" कह कर जीव के माता, पिता, बन्धु, निवास, शरण, सुहृद् गति आदि सब कुछ एक नारायण ही बताए हैं। इससे जीव का ब्रह्म-संबंध—विभुरूप स्पष्ट सिद्ध हो रहा है। एक शाखा वाले विद्वान् अपने लिए दास सेवक आदि कहकर ब्रह्म की उपासना करते हैं, इससे भी जीव-ब्रह्म संबध में जीव के प्रति दास-भाव और ब्रह्म का विभु होना सिद्ध होता है।

मंत्रवर्णाच्च ॥ ४४ ॥

सूत्रार्थ—मंत्रवर्णात्=मन्त्र वर्ण में होने से, च=भी यही मान्यता ठीक है।

व्याख्या—मन्त्र वर्ण में भी जीव को ब्रह्म का अंश कहा है। "पादोऽस्य सर्वा भूतानि" से ब्रह्म के एक पाद में सब भूतों के होने की बात कही है। इसमें 'पाद' शब्द से अंश का ही बोध होता है।

अपि च स्मर्यते ॥ ४५ ॥

सूत्रार्थ—च=और,अपि=मन्त्र में ही नहीं, किन्तु,स्मर्यते= स्मृति से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—स्मृति में भी जीव का ईश्वरांश होना प्रकट किया

गया है "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" अर्थात् 'जीव लोक में जितने भी जीव आदि सनातन हैं, वे सब मेरे ही अंश हैं, इस प्रकार श्रीमद् भगवद्गीता में कहा गया है। यहाँ सनातन शब्द जीव की विभुता प्रदर्शित नहीं करता है, किन्तु जीव का ब्रह्मांश होना बताता है। स्मृति में जीव का स्वरूप बताते हुए जीव को ज्ञानाश्रय, ज्ञानगुण, चेतन, प्रकृति से परे, जन्म-रहित, एक रूप और शरीर की विशिष्टता वाला तथा 'दासभूतो हरेरेव' अर्थात् 'श्रीहरि का दास भूत' कहा है। इससे जीव का ब्रह्मांश होना ही सिद्ध होता है।

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ ४६ ॥

सूत्रार्थ—परः=परब्रह्म, एवम्=इस प्रकार जीव के भोगों से सम्बद्ध, न=नहीं है जैसे, प्रकाशादिवत्=प्रकाश आदि अपने अंश के दोषों से असम्बद्ध रहते हैं।

व्याख्या—सूर्य आदि प्रकाश अपने अंश के दोषों से सम्बद्ध नहीं होते अर्थात् सूर्य की अंश रूप किरणें अच्छे या बुरे सभी स्थानों पर पहुँचती हैं और वहाँ के वातावरण से प्रभावित-सी लगती हैं, परन्तु, सूर्य पर उस वातावरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसी प्रकार ब्रह्म भी अपने अंश रूप जीवों के कर्म-दोषों से प्रभावित नहीं होता। कठोपनिषद् के अनुसार 'जैसे सब लोकों के चक्षु स्वरूप सूर्य चक्षु में होने वाले दोषों से लिप्त नहीं होता, वैसे ही सब प्राणियों का अन्तरात्मा एक मात्र ब्रह्म, लोकों के दुःखों से लिप्त नहीं होता।'

स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥

सूत्रार्थ—च=और, स्मरन्ति=स्मृति भी कहती हैं।

व्याख्या—स्मृतियों में भी जीवात्मा को ब्रह्म का अंश बताया है। स्मृति-वचन में "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमि" अर्थात् 'यह सब अंश कला रूप स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ही हैं' कहकर जीव को ब्रह्म का अंश बताया है।

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥ ४८ ॥

सूत्रार्थ—अनुज्ञापरिहारौ=आज्ञा और निषेध, ज्योतिरादिवत्=ज्योति आदि के समान, देहसम्बन्धात्=देह के सम्बन्ध से हैं।

व्याख्या—शरीरों के विभिन्न रूप हैं, उनके साथ जीवात्माओं का सम्बन्ध रहता है। उनके शरीर की स्थिति के अनुसार ही कर्म की अनुज्ञा अथवा निषेध होता है। जैसे बन्दर के हाथ में नारियल दीजिए तो वह उसका कुछ भी उपयोग नहीं कर सकता, इसलिए यहाँ बन्दर को उसे न देने से निषेधात्मक भाव हुआ और मनुष्य नारियल का उपयोग जानता है, इसलिए उसे देना अनुज्ञा हुई। इसी प्रकार सब स्थान पर समझ लेना चाहिए।

असंततेश्चाऽव्यतिकरः ॥ ४९ ॥

सूत्रार्थ—च=और, असंततेः=एक आत्मा की अन्य देहों तक व्याप्ति न होने से, अव्यतिकरः=एक के कर्म दूसरे को व्याप्त नहीं करते।

व्याख्या—एक आत्मा एक शरीर में ही रहती है, इसलिए उसके ही सुख-दुःखादि भोगों को भोगती है। वह दूसरे शरीर में व्याप्त नहीं होती, इसलिए अन्य शरीरों का भोग भी उसे व्याप्त नहीं होता। जैसे आकाश को प्राप्त हुए शब्द विभक्त रहते हैं, उनका परस्पर मिश्रण नहीं होता और उन्हें एक ही काल में विभिन्न स्थानों में सुना जाता है, वैसे ही शरीर सम्बन्ध से आत्माओं के पृथक्-पृथक् रहने के कारण उनके कर्मों अथवा भोगों का मिश्रण नहीं होता और वे पृथक-पृथक ही अपने कर्म-फल रूप को भोगते हैं।

आभासा एव च ॥ ५० ॥

सूत्रार्थ—च=और, आभासा=अन्य मान्यताएँ आभास मात्र, एव=ही हैं।

व्याख्या—ऊपर जो हेतु जीवात्मा और उसके कर्मों को पृथक्-पृथक् दिखाने के लिए और जीव को ब्रह्म का अंश बताने के लिए दिये हैं, वे सब शास्त्र सम्मत और युक्ति आदि के द्वारा भी प्रमाणित हैं। इसके विपरीत जो मान्यताएं मिलती हैं, वह प्रमाण रूप से स्वीकार करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि वे आभासमात्र ही हैं।

अदृष्टानियमात् ॥ ५१ ॥

सूत्रार्थ—अदृष्ट=पूर्व जन्मों में किए हुए कर्मों के भोग के सम्बन्ध में कोई प्रत्यक्ष, अनियमात्=नियम नहीं हो सकता।

व्याख्या—पूर्व कर्मों के भोग का प्रत्यक्ष नियम न होने से जीवों के कर्मों की समानता स्वीकार नहीं की जा सकती। दूसरी बात यह है कि सब जीव समान नहीं हैं। विभिन्न योनियों में होने से उनके कर्म भी विभिन्न होते हैं। जो जीव एक स्वरूप के अर्थात् एक ही योनि के होने से समान रूप वाले हैं वे अपने पूर्व कर्मों के अनुसार ही फल भोगते हैं। यदि उन्हें स्वतन्त्र मानलें तो उनके अदृष्ट कर्मों का फल भोग कौन करा-येगा? यदि यह कहें कि स्वयं ही करालेंगे तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जड़ कर्म अपने फलभोग की व्यवस्था स्वयं नहीं कर सकते। इससे यही सिद्ध होता है कि सब जीवात्माओं के कर्म-फल के भोगों की व्यवस्था ब्रह्म ही करता है और सब जीव उसी के अंशभूत हैं।

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥ ५२ ॥

सूत्रार्थ—च=और, एवम्=इस प्रकार, अभिसंध्यादिषु=संकल्प आदि के भेद से, अपि=भी उक्त मान्यता ठीक है।

व्याख्या—ईश्वर और जीवों का अंश-अंशि भाव माना गया है। यदि ऐसा न मानें तो कर्म-फल-भोग की नियमित व्यवस्था न हो सकने के कारण जीवात्मा के संकल्प आदि के विभाग का नियमित होना भी सम्भव न होगा और ब्रह्म के संकल्प आदि से भी उनकी भिन्नता सिद्ध नहीं होगी।

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ ५३ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, प्रदेशात्=एक उपाधि में देश-भेद होने से कर्मादि का नियमन हो जायगा, इति न=तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि, अन्तर्भावात्=एक दूसरे का अन्तर भाव है।

व्याख्या यदि कहो कि उपाधियों में देश-भेद होने से जीवों का विभाग सम्भव है और उससे कर्म एवं संकल्प आदि का भी नियमन हो जायगा, तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि, ब्रह्म सर्वव्यापी होने से सब उपाधियों में व्याप्त है, इसलिए उपाधियों के देश-भेद से ब्रह्म में देश-भेद नहीं हो सकता। इस प्रकार परब्रह्म और जीवात्मा का भाव उपाधि निमित्तक नहीं है।

॥ तृतीय: पाद: समाप्त ॥

चतुर्थ: पाद:

तथा प्राणा: ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—तथा=और, प्राणा:=प्राणादि इन्द्रियाँ (ब्रह्म से प्रकट होती हैं।)

व्याख्या—जैसे आकाश आदि पंच भूतों की ब्रह्म से उत्पत्ति होती है, वैसे ही प्राण और सब इन्द्रियां उसी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि पंचभूतों और इन्द्रियों की उत्पत्ति में कोई भेद नहीं है। "मन: सर्वेन्द्रियाणि चेतस्मात् जायन्त" अर्थात् 'मन और सब इन्द्रियां इसी से उत्पन्न होते हैं' यह श्रुति वाक्य भी इस सम्बन्ध में प्रमाण है।

गौण्यसम्भवात् ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—असम्भवात्=सम्भव न होने से (वह श्रुति), गौणी=गौण है।

व्याख्या—प्राण को जल से उत्पन्न बताने वाली श्रुति असम्भव कथन के कारण गौण है। उसमें 'भक्षण किए हुए तेज के सूक्ष्म अंश के एकत्र होने से वाणी बनना' कह गया है। इसी प्रकार भक्षित अन्न से मन की उत्पत्ति और पान किये हुए जल से प्राणों की उत्पत्ति कही है। परन्तु, प्राणों के बिना जल कैसे पान किया जायगा? इस प्रकार की असम्भव बात कहने से उस श्रुति को गौण मान लेना ही ठीक है।

तत्प्राक्छ्रुतेश्च ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—तत्प्राक्छ्रुतेः=श्रुति ने पंच तत्वों से पहिले इन्द्रियों का उत्पन्न होना कहा है इससे, च=भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—श्रुतियों ने इन्द्रियों का पंच तत्वों से भी पहले उत्पन्न होना कहा है, इससे भी इन्द्रियों की उत्पत्ति आकाश आदि की उत्पत्ति से पहिले हुई है, यह सिद्ध होता है।

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

व्याख्या—तत्पूर्वकत्वात=उस ब्रह्म के तीनों तत्वों में प्रवेश करने के बाद, वाचः=वाणी की उत्पत्ति कही गई है।

सूत्रार्थ—छान्दोग्य (६।३।३) के अनुसार 'उन तत्त्व रूप तीन देवताओं में जीव सहित प्रविष्ट होकर ब्रह्म ने नाम रूप वाले विश्व को रचा।' इस प्रकार ब्रह्म के प्रवेश होने पर जगत् की उत्पत्ति बताने से इन्द्रियों की उत्पत्ति ब्रह्म द्वारा ही मानी जायगी, तेज आदि तत्वों से नहीं। इसलिए वह श्रुति गौण माननी चाहिए।

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ।। ५ ।।

सूत्रार्थ—सप्त=सात इन्द्रियां हैं, गतेः=गति से सात सुनी जाती हैं, च=और, विशेषितत्वात्=विशेषतया ऐसा ही है ।

व्याख्या—सात इन्द्रियाँ कही गई हैं। मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि 'सात प्राण उत्पन्न होते हैं, उनसे सप्तार्चि, समिध, सप्त होम और यह सात लोक होते हैं, जिनमें समस्त प्राण विचरण करते हैं।' कठोपनिषद् में "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह बुद्धिश्च न विचेष्टेत" के अनुसार भी 'ज्ञानानि' पद इन्द्रियों का विशेषण है, इससे पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन तथा बुद्धि इस प्रकार सात इन्द्रियों का होना ही सिद्ध होता है ।

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ।। ६ ।।

सूत्रार्थ—तु=किन्तु, हस्तादयः=हाथ पांव आदि इन्द्रियां भी हैं, अतः=इस प्रकार, स्थिते=इस स्थिति में, एवम्=ऐसा, न=नहीं है ।

व्याख्या—हाथ पाँव आदि अन्य इन्द्रियाँ भी तो शरीर में हैं, इस स्थिति में यह कहना कि इन्द्रियाँ सात ही हैं, उचित नहीं है। वृहदारण्यक में "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः" अर्थात् 'दशम पुरुष में समस्त प्राण और ग्यारहवीं आत्मा' कहकर ग्यारह इन्द्रियों का होना माना है। इसमें 'आत्मैकादश' से पांच ज्ञानेन्द्रिय-श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण, पांच कर्मेन्द्रिय – वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ और समस्त ज्ञान के लिये एक अन्तर—इन्द्रिय अर्थात् मन का बोध होता है। इस प्रकार इन्द्रियाँ सात नहीं, किन्तु ग्यारह हैं—यह सिद्ध हुआ ।

अणवश्च ।। ७ ।।

सूत्रार्थ—च=और, अणवः=प्राण अथवा इन्द्रियाँ अणु रूप हैं ।

व्याख्या—सभी इन्द्रियों का अणु रूप होना सिद्ध होता है। जैसे जीव अणु रूप होकर भी अपने फैलने वाले अणु से पाँव से मस्तक तक व्याप्त हो जाता है, वैसे ही प्राण के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—श्रेष्ठः = मुख्य प्राण, च = भी ब्रह्म द्वारा उत्पन्न होता है।

व्याख्या—मुख्य प्राण की उत्पत्ति भी आकाश आदि की भाँति ही होती है। परन्तु, मुख्य प्राण को इन्द्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है।

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—वायुक्रिये = मुख्य प्राण वायु और उसकी क्रिया, न = नहीं हैं, क्योंकि, पृथगुपदेशात् = क्योंकि उसे पृथक् बताया गया है।

व्याख्या—श्रुतियों में प्राण को पृथक् बताए जाने से 'प्राण' शब्द से वायु अथवा उसको स्पन्दन क्रिया का बोध नहीं होता। 'एतस्माद् जायते प्राणः' के अनुसार प्राण का पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है।

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—तु = परन्तु, चक्षुरादिवत् = प्राण भी नेत्र आदि इन्द्रियों के समान है, क्योंकि, तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः = उन्हीं के साथ इसका वर्णन हुआ है।

व्याख्या—प्राण भी अन्य नेत्रादि इन्द्रियों की तरह जीव का एक उपकरण है। छान्दोग्य में 'अयं मुख्यः प्राणः' से प्राण और इन्द्रियों का सम्वाद-कथन है। उसमें प्राण की श्रेष्ठता एवं सब इन्द्रियों का उसके अनुशासन में रहना सिद्ध हुआ। प्रजापति से इन्द्रियों ने 'अपने श्रेष्ठत्व

का प्रश्न किया तो प्रजापति ने कहा कि 'तुममें से जिसके निकलने पर देह मृतक हो जाय, वही श्रेष्ठ है' इस पर वाणी, नेत्र, श्रोत्र आदि क्रमशः निकले, तब भी शरीर का कार्य चलता रहा। तब अन्त में मुख्य प्राण ने बाहर निकलने की चेष्टा की, उस समय सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने स्थान से विचलित हो गईं और उन्होंने प्राण का श्रेष्ठ होना स्वीकार कर लिया।

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—च=और, अकरणत्वात्=विषयोपभोग में कारण न होने से, दोषः=दोष, न=नहीं है, कि=क्योंकि, तथा दर्शयति=इस प्रकार देखा जाता है।

व्याख्या—शरीर के सब कार्य इन्द्रियाँ करती हैं और उन इन्द्रियों का धारण करने वाला प्राण ही है। इस प्रकार जीव के लिए प्राण का उपकार सर्वाधिक है। प्राण जब शरीर का त्याग कर देता है, तब वह छूने योग्य भी नहीं रहता "यस्मिन् उत्क्रान्ते इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते" अर्थात् 'जिसके देह से निकलने पर यह शरीर पापी के समान दिखाई देता है।' इस प्रकार प्राण का महत्व सिद्ध होता है।

पंचवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—मनोवत्=मन के समान ही प्राण, पंचवृत्तिः=पाँच वृत्तियों का, व्यपदिश्यते=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के रूप में मन की पाँच वृत्तियाँ कही गई हैं, वैसे ही प्राण को भी श्रुतियों ने पाँच वृत्ति वाला ही कहा है। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इस प्रकार प्राण की पाँच वृत्तियाँ हैं। एक ही प्राण हृदय आदि सब स्थानों में पाँच प्रकार से विद्यमान होकर कार्य करता है। योग-शास्त्र में मन की पाँच वृत्तियों

का उल्लेख है, इसी दृष्टान्त से प्राण की पंच वृत्तियों का वर्णन किया गया है।

अणुश्च ।। १३ ।।

सूत्रार्थ—अणुः=यह प्राण अणु रूप अर्थात् सूक्ष्म, च=भी है।

व्याख्या—प्राण स्थूल है अथवा सूक्ष्म ? इस शङ्का के उत्तर में प्राण को सूक्ष्म कहा गया है। सब प्राणियों की स्थिति प्राण के अधीन होने से ही उसका विभुत्व देखने में आता है। मरण-काल में जब प्राण शरीर को त्याग कर जाता है, तब वह दिखाई नहीं देता, इससे भी प्राण का अणु होना सिद्ध है।

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ।। १४ ।।

सूत्रार्थ—ज्योतिराद्यधिष्ठानम्=ज्योति आदि तत्व जिसके अधिष्ठान कहे जाते हैं, तु=वह तो ब्रह्म है क्योंकि, तदामननात्=श्रुतियाँ ऐसा ही कहती हैं।

व्याख्या—ज्योति आदि तत्वों का अधिष्ठाता ब्रह्म ही है, क्योंकि 'ब्रह्म ने बहुत होने की इच्छा से तेज की रचना की और तेज ने इच्छा की' इत्यादि छान्दोग्य श्रुति के अनुसार ब्रह्म ही तेज का अधिष्ठाता हुआ। वृहदारण्यक के अनुसार भी 'जो अग्नि, वायु आदि में स्थित है, जिसे यह नहीं जानते' ब्रह्म का अधिष्ठान होना ही सिद्ध है।

प्राणवता शब्दात् ।। १५ ।।

सूत्रार्थ—प्राणवता=प्राणधारी जीव सहित प्रविष्ट होने का, शब्दात्=वर्णन होने से भी ब्रह्म का अधिष्ठानत्व सिद्ध होता है।

व्याख्या—प्राणधारी जीव इन सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, वही सब इन्द्रियों को अपने-अपने भोग के लिए प्रेरित करता है। 'तीन

तत्वों को उत्पन्न करने के पश्चात्' ब्रह्म ने विचार किया कि 'इस जीवात्मा सहित इन तीन देवताओं में प्रकट होकर अनेक नाम-रूप प्रकट करूँ" इस प्रकार देवताओं को उनके प्रवर्तन के लिए, जीवों के भोग-सम्बन्ध में ब्रह्म के सङ्कल्प से इन्द्रियों का अधिष्ठाता होना सिद्ध होता है।

तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—तस्य=उस जीव के, नित्यत्वात्=अविनाशी होने से, च=भी यही ठीक है।

व्याख्या—श्रुतियों ने जीव को अविनाशी कहा है। सृष्टि-रचना के समय शरीरों की उत्पत्ति में गौण रूप से उसका उत्पन्न होना कहा है, वास्तव में वह आभासमात्र ही है क्योंकि पञ्चभूतों की उत्पत्ति से पूर्व या पश्चात् भी उसकी उत्पत्ति का वर्णन नहीं किया गया है। शरीर में जीवात्मा सहित ब्रह्म की प्रविष्टि होने के वर्णन से भी यही सिद्ध होता है।

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—ते=वे, इन्द्रियाणि=इन्द्रियाँ, श्रेष्ठात्=मुख्य प्राण से, अन्यत्र—भिन्न बताई हैं, तद्व्यपदेशात्=उनके कथन से, ऐसा ही प्रतीत होता है।

व्याख्या—इन्द्रियों को मुख्य प्राण से भिन्न भी कहा गया है। मुण्डक आदि श्रुतियों ने प्राण को इन्द्रिय नहीं कहा है। इस प्रकार इन्द्रियाँ और मन प्राण से भिन्न हैं। "इन्द्रियाणि दशैकञ्च" अथवा "प्राणो मुख्यस्त्वनिन्द्रियम्" से श्रुतियों में प्राण को गौण रूप से इन्द्रियों में कह दिया है।

भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—भेदश्रुतेः=श्रुति में इन्द्रियों की प्राण से भिन्नता कही गई है।

व्याख्या—श्रुतियों ने इन्द्रियों के वर्णन में उनका प्राण से भेद कहा है। 'प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" से प्राण की सब इन्द्रियों से भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। इससे सिद्ध है कि सब इन्द्रियाँ प्राण से भिन्न ही हैं।

वैलक्षण्याच्च ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—वैलक्षण्यात्=परस्पर में विलक्षणता होने से, च=भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—प्राण पर निद्रा का कोई प्रभाव नहीं होता। सुषुप्ति में इन्द्रियाँ और अन्तःकरण सभी का लय हो जाता और सब निष्क्रिय हो जाते हैं, परन्तु, उस समय केवल प्राण जागृत रहता है। प्राण, देह और इन्द्रियों का धारण करने वाला होने से भी इन्द्रियों और प्राण के लक्षण में भिन्नता है।

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः=नाम, रूप की रचना, तु=तो, त्रिवृत्कुर्वतः=तेज, बल, पृथिवी इन तीनों तत्वों को मिलाने वाले की है, क्योंकि, उपदेशात्=ऐसा ही वर्णन किया गया है।

व्याख्या—नाम, रूप आदि से सम्पन्न विश्व की रचना का काम ब्रह्म का ही है। छान्दोग्य (६।३।२) के अनुसार 'इस देवता ने देखा कि मैं इन तीन देवताओं (तेज, जल, पृथिवी) में इस जीवात्मा के सहित प्रवेश करके नाम रूप को प्रकट करूँ।' इससे सिद्ध हुआ कि यह सब कार्य ब्रह्म के ही हैं।

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्छ ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—भौमम्=भूमि के कार्य, मांसादि=मांस, पुरीष

और मन हैं, च=और, इतरयोः=तेज और जल के भी भाग किये गए हैं।

व्याख्या - पृथ्वी के तीन कार्य कहे हैं—भोजन के बाद स्थूल भाग पुरीष, मध्य भाग मांस और सूक्ष्म भाग मन होता है। छान्दोग्य (६।५।१) "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते" इत्यादि से यही सिद्ध होता है। इसी प्रकार तेज का स्थूल भाग अस्थि, मध्य भाग मज्जा और सूक्ष्म भाग वाक् कहा गया है। पानी का स्थूल भाग मूत्र, मध्य भाग रक्त और सूक्ष्म भाग प्राण होता है।

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—तद्वादः=मांसादि को भौम कहना, तु=तो, वैशेष्यात्=भूमि तत्व की विशेषता के कारण है, तद्वादः=यह पुनरोक्ति अध्याय-समाप्ति की सूचक है।

व्याख्या—ऊपर पृथ्वी आदि तत्वों की विशेषता होने से ही मांस, मन, पुरीष को भौम कहा गया है। वैसे ही उन-उन तत्वों की विशेषता से अस्थि आदि और मूत्रादि को कहा गया है। जल का सूक्ष्मांश प्राण को कहने से तात्पर्य यह है कि जल पीने से प्राण की स्थिति ठीक होती है। इसी प्रकार अन्य तत्वों की विशेषता से विभिन्न वस्तुओं का निर्देश समझना चाहिये। वैसे मन, प्राण, इन्द्रिय आदि भूतों द्वारा उत्पन्न नहीं होते, उन-उन तत्वों के संसर्ग से इस प्रकार का उल्ले गौण रूप से ही हुआ है।

॥ चतुर्थः पादः सम्पूर्णम् ॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः सम्पूर्णम् ॥

तृतीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

तदनन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—तदनन्तर प्रतिपत्तौ=पूर्व देह को त्याग कर नवीन देह की प्राप्ति के लिए, सम्परिष्वक्तः=सूक्ष्म भूतों से सम्पन्न हुआ जीवात्मा, रंहति=गमन करता है, प्रश्ननिरूपणाभ्याम्=प्रश्न और उनके निराकरण से यह बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—छान्दोग्य में प्रवाहण और श्वेतकेतु का सम्वाद-प्रसङ्ग है। उसमें कहा गया है कि पंचाल देश के राजा प्रवाहण ने श्वेतकेतु नामक ब्राह्मणकुमार से पाँच प्रश्न किये—(१) कर्मवानों का गन्तव्य स्थान कहाँ है?' (२) वहाँ से लौट कर आने का प्रकार क्या है? (३) जो इस लोक को प्राप्त नहीं होता वह कहाँ रहता है? (४) देवयान और पितृयान मार्ग का क्या अन्तर है? और (५) पाँचवीं आहुति में जल की पुरुष-देह प्राप्ति का कारण क्या है?' श्वेतकेतु इनका उत्तर न दे सकने के कारण अपने पिता के पास गया और सब बात कह कर वही प्रश्न किये। पिता ने कहा कि 'मैं स्वयं इनका उत्तर नहीं जानता' और वह अपने पुत्र सहित राजा के पास गया। राजा ने ब्राह्मण की पूजा कर धन आदि से सम्मानित करना चाहा, परन्तु ब्राह्मण ने दानादि स्वीकार न कर वही पाँच बातें बताने का आग्रह किया। तब राजा ने

उत्तर दिया कि 'जगत् में स्वर्ग, मेघ, पृथिवी; पुरुष और स्त्री यह पाँच अग्नियाँ हैं । श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और वीर्य उन पाँचों अग्नियों की आहुति हैं।' इसके बाद राजा प्रवाहण ने प्रथम पाँचवें प्रश्न का ही समाधान किया और स्वर्ग लोक रूप अग्नि में श्रद्धा की प्रथम आहुति से राजा सोम की उत्पत्ति हुई। फिर मेघ रूप अग्नि में सोम को हवन करने से वर्षा की उत्पत्ति बताई। इसके बाद पृथिवी रूप अग्नि में वर्षा का हवन होने से अन्न की उत्पत्ति कही गई। चौथी आहुति पुरुष रूप अग्नि में अन्न का हवन करने से वीर्य का उत्पन्न होना कहा गया और स्त्री रूप पाँचवीं अग्नि में वीर्य का हवन करने से गर्भ की उत्पत्ति बता कर इस प्रकार पाँचवीं आहुति में वीर्य रूप जल का पुरुष संज्ञक होना कहा गया है। यहाँ जिन भूतों के साथ जीव का गमन कहा गया है, वहाँ नवीन देह धारण के लिए प्रथम जल ही स्त्री गर्भ में प्रविष्ट होकर पुरुषाकार देह की प्राप्ति कराता है।

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—त्र्यात्मकत्वात्=तीन तत्वों के मिश्रण से देह बना है, इसलिए (जल के साथ अन्य तत्वों का ग्रहण हो जाता है), तु=तथा, भूयस्त्वात्=जलांश अधिक होने से भी ऐसा कहा गया है।

व्याख्या—तीनों तत्वों के सम्मिश्रण के पश्चात् जगत् के नाम, रूप का प्रकट करना श्रुतियों ने कहा है। वीर्य में सभी भौतिक तत्व रहने पर भी जल का अंश अधिक रहता है, इसलिए जल के द्वारा ही पुरुष की उत्पत्ति कह दी गई है। यथार्थ में शरीर के बीज भूत सभी तत्वों का ग्रहण उससे हो जाता है। श्रुति में प्राण को भी जल कहा गया है और शरीर बदलते समय जीव का प्राण में स्थित होकर जाना कहा है, इससे भी जल का पुरुष रूप में परिवर्तित होना कथन करना अनुचित नहीं है।

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—प्राणगतेः—जीव के साथ प्राण भी जाते हैं, ऐसा कहने से, च=भी यह बात ठीक है।

व्याख्या—प्राण की गति से ही जीव की गति सम्भव है। प्राण के न निकलने से जीव की मृत्यु नहीं होती। बृहदारण्यक (४।४।२) "तमुत्क्रामन्त प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" अर्थात् "जीव जब उत्क्रमण करता है तो मुख्य प्राण भी उसके साथ चलता है, उस प्राण के साथ सभी इन्द्रियाँ चल देती हैं।' इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा प्राण आदि सूक्ष्म भूतों से परिवेष्टित होकर ही दूसरे देह की प्राप्ति के लिए जाता है।

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, अग्न्यादिगतिश्रुतेः=अग्नि आदि में जाने की बात अन्य श्रुति कहती है तो, इति न=ऐसा नहीं है, क्योंकि, भाक्तत्वात्=वह श्रुति भेद विषयक होने से गौण समझनी चाहिए।

व्याख्या—एक शङ्का है कि सभी तत्वों का विलीनीकरण अपने-अपने कारण में हो जाता है क्योंकि बृहदारण्यक में 'वाणी अग्नि में लीन हो जाती है, प्राण वायु में लीन हो जाते हैं, चक्षु आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथिवी में, आत्मा आकाश में, लोम ओषधियों में, केश वनस्पतियों में और रक्त वीर्य जल में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार का वर्णन मिलता है। परन्तु, यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह श्रुति गौण है। लोम का ओषधि में और केश का वनस्पति में विलीन होना प्रत्यक्ष ही मिथ्या है। इसलिए वाणी आदि की निवृत्ति ही इसका तात्पर्य हो सकता है।

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, प्रथमे=प्रथम आहुति में (जल का कथन) अश्रवणात्=न सुना जाने से (जल का पुरुष संज्ञक होना ठीक नहीं) तो, इति न=ऐसा नहीं है, हि=क्योंकि उपपत्तेः=पूर्वापर प्रसङ्ग से, ताः एव='श्रद्धा' शब्द से उस जल का ही वर्णन किया गया है।

व्याख्या—यदि यह कहो कि उस आख्यायिका में श्रद्धा की आहुति दी गई है, इसलिए पुरुष संज्ञक जल नहीं हो सकता क्योंकि इन सबका कारण श्रद्धा ही हुई। परन्तु, यह शङ्का व्यर्थ है, क्योंकि वहाँ श्रद्धा से सभी सूक्ष्म तत्वों का ग्रहण हो जाता है और पाँचवीं आहुति में उसी को जल नाम से कथन किया है। जीव की गति को अन्तिम संकल्प के अनुसार और प्राण के द्वारा होने वाली कहा गया है। इस प्रकार संकल्पानुसार जो सूक्ष्म तत्व प्राण में रहते हैं, उन्हें ही वहाँ श्रद्धा कहा गया है। इस प्रकार पूर्व और अपर प्रसङ्ग में कोई विरोध सिद्ध नहीं होता।

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि यह कहो कि, अश्रुतत्वात्=तत्वों के सहित जीवात्मा के जाने का वर्णन नहीं सुना जाता, इसलिए यह कहना ठीक नहीं है तो, इति न=यह ठीक नहीं है, क्योंकि, इष्टादिकारिणाम्=शुभ-अशुभ कर्म करने वालों का वहाँ वर्णन होने से, प्रतीतेः=यही प्रतीत होता है।

व्याख्या—यदि यह शंका करें कि जीवात्मा उन तत्वों को साथ लेकर देह त्यागने के पश्चात् जाता है, ऐसा उस प्रकरण में नहीं कहा गया है, तो ऐसी शंका व्यर्थ है। क्योंकि उसी प्रकरण में उत्तम कर्म वालों को उत्तम योनि और निम्न कर्म करने वालों को अधम योनि प्राप्त

होने की बात कही गई है। इस प्रकार समस्त भूतों सहित जीवात्मा का अपने-अपने कर्मानुसार एक देह से दूसरे देह में जाना सिद्ध होता है।

भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—अनात्मवित्त्वात्=आत्मज्ञानी न होने के कारण, वा=ही, भाक्तम्=उन्हें देवताओं का उपकरण कहना ठीक नहीं है, हि=क्योंकि, तथा=उस प्रकरण से भी, दर्शयति= देखा जाता है।

व्याख्या—वे शुभ कर्म करने वाले व्यक्ति आत्मज्ञानी न होने से देवताओं के अन्न कहे गए हैं, परन्तु, देवता खाते-पीते नहीं हैं, वे तो अमृत को देखकर ही तृप्त हो जाते बताये गए हैं। इससे उस श्रुति का गौण भाव स्पष्ट है। उन्हें देवताओं का भोजन न मान कर सेवक समझना चाहिए। वृहदारण्यक श्रुति 'अथ योऽन्यां देवतामुपासते" इत्यादि में 'ब्रह्म को न जानते हुए अन्य देवताओं की उपासना करने वाले को घर के पशुओं के समान, देवताओं का पशु होना' कहा है। इससे सिद्ध होता है कि कर्मवानों को देवताओं का अन्न कहने वाली श्रुति गौण है।

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—कृत्यात्यये=शुभ कर्मों के क्षीण होने पर, अनुशयवान्=शेष कर्म संस्कार वाला जीव, यथेतम्=जिस मार्ग से गया था, उसी से, च=अथवा, अनेवम्=अन्य मार्ग से लौटता है, दृष्टस्मृतिभ्याम्=श्रुति-स्मृति से ऐसा देखा जाता है।

व्याख्या—जीव अपने उन पुण्य कर्मों सहित स्वर्ग लोक में जाता है, जिनकी फल-प्राप्ति के निमित्त उसे वहाँ भेजा गया है। उन कर्मों के क्षीण हो जाने पर अनुशय अर्थात् प्रलिप्त वासना आदि के सहित उसी मार्ग से अथवा किसी और मार्ग से संसार में लौट जाता है। उसी प्रलिप्त वासना के भेद से ही इस जगत् में उसे विभिन्न योनियाँ प्राप्त

होती हैं। अच्छी वासना होने से शुभ योनि और अशुभ वासना से निकृष्ट योनि मिलना समझना चाहिए। "तद् य इह रमणीयचरणाभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्" अर्थात् 'श्रेष्ठ आचरण वाले श्रेष्ठ योनि को प्राप्त होते हैं।'

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—चेत=यदि कहो कि, चरणात्='चरण' शब्द के प्रयोग से (अनुशय सहित लौटने की बात ठीक नहीं है तो), इति न=ऐसी बात नहीं है क्योंकि, उपलक्षणार्था=वैसा कहना अनुशय के उपलक्षण के निमित्त है, इति=ऐसा, कार्ष्णाजिनिः= आचार्य कार्ष्णाजिनि का कथन है।

व्याख्या—यदि यह कहा जाय कि उक्त श्रुति में 'रमणीयचरणा' में जो 'चरण' शब्द है, वह कर्म-संस्कार के निमित्त प्रयोग में नहीं आता, इसलिए जीव का अनुशय सहित पुनरागमन सिद्ध नहीं होता। परन्तु, कार्ष्णाजिनि नामक आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'चरण' शब्द अनुशय का उपलक्षण ही है। आचार को ही चरण कहा गया है और कर्म के शेष को अनुशय कहते हैं, इससे चरण और अनुशय एक ही अर्थ का बोध कराने वाले हैं, ऐसा मानना चाहिए।

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, आनर्थक्यम्=यहाँ 'चरण' शब्द का प्रयोग निरर्थक है तो, इति न=ऐसा कहना ठीक नहीं है, तदपेक्षत्वात्=कर्म आचरण से ही अपेक्षित है।

व्याख्या—यदि ऐसा कहो कि यहाँ अकारण ही 'चरण' शब्द का प्रयोग कर उसे अनुशय का उपलक्षण रूप मान लिया है, तो यह कहना व्यर्थ है, क्योंकि शुभ अथवा अशुभ आचरण के द्वारा ही कर्म

संस्कार रूप अनुशय की प्राप्ति होती है, इसलिए कर्म में आचरण अपेक्षणीय है।

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—बदरिः=आचार्य बादरायण, तु—तो, इति=इस प्रकार (कहते हैं कि) सुकृतदुष्कृते=शुभ कर्म और अशुभ कर्म का, एव=ही 'चरण' शब्द से बोध होता है।

व्याख्या—आचार्य बादरायण के मत में 'चरण' शब्द यहाँ सुकृत और दुष्कृत दोनों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। 'रमणीय चरण' का अर्थ पुण्य आचरण अथवा पुण्य कर्म समझना चाहिए और 'कपुयाचरण' का अर्थ निन्दनीय आचरण। आचरण और कर्म में कोई भेद मानने की आवश्यकता नहीं है।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—च=और, अनिष्टादिकारिणाम्=बुरे कर्म करने वालों का, अपि=भी, (चन्द्रलोक गमन), श्रुतम्=सुना गया है।

व्याख्या—कोषीतकि उपनिषद् (१।२।१) में "ये वे के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" अर्थात् जो कोई इस लोक से जाते हैं, वे सभी चन्द्रलोक में पहुँचते हैं।' इसमें किसी अच्छे-बुरे का भेद न कह कर सब का ही चन्द्रलोक-गमन कहा है। इस प्रकार तो 'शुभ कर्म वालों का धूम-मार्ग से चन्द्रलोक गमन' कहने वाली श्रुति से विरोध होता है। इस सन्देह का निवारण नीचे के सूत्र में करते हैं—

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—तु=किन्तु, इतरेषाम्=शुभ कर्मियों से अन्य

(पापी) का, संयमने=यमलोक में, अनुभूय=फल भोग लेने पर, आरोहावरोहौ=चढ़ना, उतरना सम्भव है क्योंकि, तद्गतिदर्शनात्=उनकी वैसी ही गति देखी जाती है।

व्याख्या—कठोपनिषद् (१।२।६) में यमराज कहते हैं कि "न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।" अर्थात् 'निरन्तर प्रमादी और ऐश्वर्याभिमानी मूर्ख को परलोक दिखाई नहीं देता, वह प्रत्यक्ष लोक को ही सत्य और अन्य लोक को असत्य मानता हुआ बारम्बार मेरे वश में आ जाता है।' इस प्रकार पाप-कर्मियों का चन्द्रलोक-गमन सिद्ध नहीं होता क्योंकि चन्द्रलोक में बुरे कर्मों के फल भोग की व्यवस्था नहीं दिखाई देती। जो पापकर्मी अपने कर्म का फल यमलोक में भोग लेते हैं, वही वहाँ से निकल पाते हैं। जो जैसा कर्म करता है, उसकी वैसी ही गति देखी जाती है।

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—च=और, स्मरन्ति=स्मृतियाँ भी यही कहती हैं।

व्याख्या—स्मृतियाँ भी पापियों के लिये फल-भोग की व्यवस्था यम-सदन में ही कहती हैं। "तत्र-तत्र पतम् श्रान्तो मूर्च्छिता पुनरुत्थितः यथा पापीयसा नोतस्तरसा यम सादनं।" अर्थात् 'मृत्यु के बाद पापी लोग यम-मार्ग में बार-बार पतित होते, मूर्छित होते और उठते हैं, फिर उठकर तेजी से यम के पास जाकर गिर जाते हैं।' इससे सिद्ध हुआ कि पापी चन्द्रलोक में नहीं जाते।

अपि च सप्त ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—च=और, सप्त=सात नरकों का, अपि=भी वर्णन है।

व्याख्या—सात प्रकार के नरकों का वर्णन मिलता है, जैसे रोरव, महान्, वह्नि, वैतरणी, कुम्भीपाक यह पाँच अनित्य नरक कहे गए हैं और तामिस्र, अन्ध तामिस्र यह दो नित्य नरक हैं। क्रमशः एक से दूसरा नरक अधिक यातना वाला होता है। पाप-कर्मियों को फल भोगने के लिए इन सात नरकों को कहा गया है।

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—च=और, तत्र=उन नरकों में, अपि=भी, तद्व्यापारात्=उस यमराज के अनुकूल कार्य होने से, अविरोधः=विरोध नहीं है।

व्याख्या—उन सभी नरकों में यमराज का शासन है और उनके अधिकारी यमराज के आदेशानुसार ही यातना देने आदि कार्य करते हैं। इससे यमराज के द्वारा पाप-कर्मियों के दण्ड भोगने की बात कहना अनुचित नहीं है।

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—विद्याकर्मणोः=विद्या और कर्म का, तु=ही, प्रकृतत्वात्=प्रकरण होने से, इति=यह वर्णन ठीक है।

व्याख्या—छान्दोग्य में विद्या और शुभ कर्म के प्रसङ्ग से ही देवयान और पितृयान मार्ग का कथन है। विद्या से देवयान और कर्म से पितृयान की सिद्धि होती है। कौषीतकी में भी ज्ञान और सत्कर्म के फल कहने वाले प्रकरण में ही इसका वर्णन हुआ है। इससे स्पष्ट है कि श्रेष्ठ कर्म करने वाले मनुष्य ही चन्द्रलोक-गमन के लिए अधिकारी हैं।

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—तृतीये=तीसरी गति की, न=अपेक्षा नहीं है, क्योंकि, तथापलब्धेः=ऐसा ही मिलता है।

व्याख्या—विद्या और कर्म वाले पुरुषों के अतिरिक्त तीसरी प्रकार के जीव अर्थात् दुष्कर्म करने वालों के लिए किसी गति का विधान नहीं कहा है। छान्दोग्य (५।१०।८) में कहा है कि 'जो प्राणी देवयान और पितृयान दोनों मार्गों से भ्रष्ट हैं, वे सब विभिन्न प्रकार के क्षुद्र जीव होकर बारम्बार मरते और उत्पन्न होते हैं, वे तृतीय स्थान वाले जीव स्वर्ग में नहीं जा सकते।' इससे सिद्ध होता है कि पापियों के लिए चन्द्र लोक में जाना सम्भव नहीं है।

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—लोके=लोक में, च=और, स्मर्यते=स्मृति में भी ऐसा ही कहा गया है।

व्याख्या—पापियों के लिए यम की दण्ड व्यवस्था लोक में कही जाती है और स्मृतियों में इसका वर्णन है। तीसरी गति से भी अधम एक और गति है जिसमें जघन्य पापकर्मी नीचे के लोकों को प्राप्त होते हैं। इसी को अधोगति कहा गया है।

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—दर्शनात्=श्रुति में भी इसका उल्लेख देखा जाता है, च=इसलिए भी यह मान्यता ठीक है।

व्याख्या—श्रुतियों ने भी जीव की अधम गति का वर्णन किया है। ईशावास्योपनिषद् के अनुसार 'असुरों के जो लोक हैं, वे सब अज्ञान, अन्धकार से ढके हुए हैं, आत्म-हत्या करने वाले व्यक्ति मरकर बारम्बार उन्हीं लोकों में जाते हैं। इससे अधोगति की बात सिद्ध होती है।

तृतीय शब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—तृतीयशब्दावरोधः=तीसरे उद्भिज्ज द्वारा, संशोकजस्य=स्वेदज जाति का संग्रह है।

व्याख्या—सब भूतों के बीज तीन प्रकार के होते हैं—अण्डज,

जीवज, उद्भिज्ज । इसके अतिरिक्त संशोकज भेद और कहा है, संशोकज को स्वेदज भी कहते हैं । पसीने से उत्पन्न होने के कारण इसे स्वेदज कहा गया है । उद्भिज्ज और स्वेदज दोनों पृथिवी और जल के संयोग से उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार इन दोनों में समानता है । उद्भिज्ज को स्थावर और स्वेदज को जङ्गम कहा जाता है ।

तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—तत्साभाव्यापत्तिः—उसके समान भाव की प्राप्ति, उपपत्तेः=(होने वाली बात) युक्तिसङ्गत है।

व्याख्या—आकाश, वायु आदि बनकर लौटने का कथन अनुपयुक्त है । आकाश आदि तत्व पहिले से ही विद्यमान हैं और जीवात्मा के भाव-परिवर्तन होने पर भी वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं, इससे भी इस कथन की पुष्टि नहीं होती । इसलिए इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि वे आकाश आदि के समान आकार वाले होकर लौटते हैं । एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के रूप में हो जाना सम्भव नहीं है ।

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—विशेषात्=ऊपर जाने और नीचे उतरने में भेद के कारण, नातिचिरेण=जीव अधिक काल तक ऊपर नहीं रहते ।

व्याख्या—ऊपर के लोकों में जाने वाले जीवात्मा के लिए कर्म-फल के अनुसार ऊपर पहुँचने में अधिक समय लग सकता है, परन्तु वहाँ फल-भोग पूर्ण हो जाने पर, नीचे उतरने में कुछ देर नहीं लगती । दूसरे ऊपर जाने में गति का अवरोध रहने से देर हो सकती है, परन्तु नीचे आने में गति की विशेषता से देर नहीं होती ।

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—पूर्ववत्=पहले के समान, अभिलापात्=यह कहा

गया है, इसलिए, अन्याधिष्ठितेषु=अन्य आत्मा का, अपने फल भोगानुसार धान, जौ आदि में निवास है।

व्याख्या—जैसे पूर्व सूत्र में कहा गया है कि जीवात्मा आकाश आदि नहीं बनता, वैसे ही धान, जो आदि के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, अशुद्धम=(जीव का धानादि में निवास होने से उसे पकाना आदि तो) अशुद्ध कर्म होगा, न=ऐसा नहीं है, शब्दात्=श्रुति वचन से यह प्रमाणित है।

व्याख्या—यदि वह कहें कि धान आदि के दाने में जीव रहने से उसका कूटना, पकाना, खाना आदि कर्म अशुद्ध होंगे और उनसे पाप होगा तो ऐसा कहना निरर्थक है क्योंकि श्रुतियों में अन्न के भक्षण करने का निर्देश दिया हुआ है। इसलिए अन्न-भक्षण में हिंसा नहीं होती।

रेतः सिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—अथ=फिर, रेतः सिग्योगः=वीर्य-सेचन करने वाले पुरुष से उसकी सङ्गति होती है।

व्याख्या—जीवात्मा अन्न के साथ पुरुष के उदर में जाकर वीर्य में प्रवेश करता है। इससे सिद्ध है कि जीव का आकाश या अन्न के रूप में कथन संश्लेषमात्र ही है।

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—योनेः=योनि की प्राप्ति पर, शरीरम=देह की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—जीवात्मा माता की योनि में प्रविष्ट होकर शरीर को प्राप्त करता है। यहीं से वह अपने कर्म-फल-भोग को प्राप्त करता है। मातृ-योनि में आने से पहिले उसका कोई शरीर नहीं माना जाता।

॥ प्रथमः पादः समाप्तः ॥

द्वितीयः पादः

संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

सूत्रार्थ- संध्ये=स्वप्न में भी, सृष्टि=रचना कार्य होता है, हि=क्योंकि, आह=श्रुति ऐसा कहती है।

व्याख्या—स्वप्नावस्था में जीव द्वारा लोक और परलोक दोनों के देखने की बात श्रुति कहती है। वृहदारण्यक (४।३।१०) में "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" अर्थात् 'स्वप्न में न तो रथ होते हैं और न घोड़े आदि, परंतु जीवात्मा रथ, घोड़े आदि और उनके मार्ग बना लेता है।' इसी प्रकार ताल, बावड़ी, नदी आदि बनाने की बात कही गई है। इससे सिद्ध होता है कि जाग्रत् के समान स्वप्न में भी जीव रचना-कार्य करता है। जाग्रतावस्था में जिन साधन-सामानों की उसे आवश्यकता होती है, स्वप्न में उनकी भी आवश्यकता नहीं होती।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—च=और, एके=एक शाखा वाले विद्वान्, निर्मातारम्=जीव को इच्छित कार्यों का निर्माता मानते हैं, च=तथा, पुत्रादय=पुत्रादि की कामना को उनका इच्छित कार्य कहते हैं।

व्याख्या—एक शाखा वाले विद्वान् जीव को काम-वासना आदि का निर्माण करने वाला मानते हैं। कठोपनिषद् में "य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण:" अर्थात् 'यह जीव सबके सो जाने पर (पुत्रादि की) कामनाओं का निर्माण करता हुआ जागता रहता है।'

माया मात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, कात्स्न्येन=पूर्ण रूप से, अनभिव्यक्त-स्वरूपत्वात्=स्वरूप की अभिव्यक्ति न होने से, मायामात्रम्=केवल माया ही है।

व्याख्या—जीवात्मा स्वप्न में जो रचना करता अथवा देखता सुनता है, उसमें स्थायित्व न होने से, उस-उस वस्तु या दृश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि स्वप्न केवल सङ्कल्पों की अभिव्यक्ति मात्र है, इसलिए उसे केवल माया कहना उचित ही प्रतीत होता है। प्रश्न-श्रुति के अनुसार 'जागते में सुनी, देखी, अनुभव की हुई वस्तुऐं स्वप्न में विचित्र ढङ्ग से दिखाई देती है। वहाँ न देखी-सुनी अथवा अनुभव न की हुई वस्तुओं को भी वह देखता है। इससे भी स्वप्न की सृष्टि का माया मात्र होना ही सिद्ध होता है।' उपरोक्त सूत्र में जीव को कामेच्छाओं का निर्माता माना गया है, यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ स्वप्नावस्था का वर्णन नहीं है।

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—सूचक:=भविष्य की शुभ-अशुभ बातों का सूचक, च=भी है, हि=क्योंकि, श्रुते:=श्रुति ऐसा कहती है, च=और, तद्विद=स्वप्न विषय के ज्ञाता, आचक्षते=ऐसा कहते हैं।

व्याख्या—भविष्य में होने वाले शुभ या अशुभ फल की सूचना भी स्वप्न से मिल जाती है, क्योंकि श्रुति स्वप्न को भविष्य-सूचक

बताती है और स्वप्न के विषय को जानने वाले विद्वान् भी ऐसा कहते हैं। छान्दोग्य (५।२।८) में "यदा काम्येषु कर्मसु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति समृद्धि तत्र विजानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने" अर्थात् 'जब काम्य कर्म का अनुष्ठाता स्वप्न में सौभाग्यवती स्त्री को देखे तब अपने कार्य को सिद्ध हुआ जान ले।' कौषीतकी ब्राह्मण में "अथ स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्तीति" अर्थात् 'जो स्वप्न में काले रङ्ग के और काले दाँत वाले पुरुष को देखता है, वह उसके द्वारा मृत्यु को प्राप्त होता है। स्वप्न विद्या के विद्वान् स्वप्न में हाथी पर सवार होने को शुभ और गधे पर सवार होने को अशुभ मानते हैं। इस प्रकार स्वप्न में देखे हुए दृश्यों का शुभ-अशुभ सूचक होना सिद्ध होता है।

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्ध विपर्ययौ ।। ५ ।।

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, तिरोहितम्=(जीव में ईश्वर सम्बन्धी गुण (छिपे हुए हैं), पराभिध्यानात्=परब्रह्म का ध्यान करने से (वे प्रकट होते हैं), हि=क्योंकि, ततः=उस ब्रह्म के द्वारा ही, अस्य=इस जीव के, बन्धविपर्ययौ=बन्धन और उसका विपर्यय अर्थात् मुक्ति है।

व्याख्या—जीवात्मा ब्रह्म का अंशभूत होने से उसी के गुणों से सुसङ्गत है, परन्तु, जीव अपने कर्मानुसार और इस साँसारिक माया के चक्र में रह कर उन्हें भूला रहता है और उसके वे गुण छिपे रहते हैं। जब वह जीवात्मा उस परब्रह्म का निरन्तर ध्यान आदि सत्कर्म करता है, तब उसमें छिपे हुए वे गुण पुनः प्रकट हो जाते हैं। श्वेताश्वतर में "तस्याभिध्यानाद् योजनात्तत्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" के अनुसार उन गुणों का प्राकट्य ईश्वर का ध्यान करने से ही सम्भव है।

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—सः=गुणों का छिपना भी, अपि=भी, देह-योगात्=देह की सङ्गति से, वा=ही है।

व्याख्या—जीवात्मा देह के साथ जब अपनी एकता मान लेता है, तब वह परमात्म-तत्वों को भूल जाता है। इसी कारण उसके छिपे हुए गुण प्रकट नहीं हो पाते। जब तक जीव इस माया से निवृत्त नहीं होता, तब तक उसके गुण छिपे ही रहते हैं, इससे उसे बार-बार कर्म-बन्धन में पड़कर जीवन-मरण के चक्र में घूमना पड़ता है।

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—तदभावः=(सुषुप्ति में) उस स्वप्न का अभाव होता है (और जीव), नाडीषु=नाड़ियों में (अवस्थित होता है), च=और, आत्मनि=आत्मा में भी स्थित रहता है, तच्छ्रुतेः=ऐसा सुना जाता है।

व्याख्या—ऊपर स्वप्नावस्था का जो वर्णन आया है, उसमें जीवात्मा के जागने, सोने, स्वप्नावस्था में रहने आदि की बात बताई गई है। परन्तु, जब वह पुरीतति नाड़ी से आत्मा में पहुँचता है, तब स्वप्न के दृश्य उसे दिखाई नहीं देते। छान्दोग्य में "तद्यत्रैतत्सुप्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति" अर्थात् 'जब सोते हुए में किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता तब प्रसन्न होकर नाड़ियों में व्याप्त हो जाता है' इस प्रकार कहा है और स्वप्न के अभाव में सत् के साथ सम्बद्ध होना भी छान्दोग्य में बताया है यथा—"सता साम्य तदा सम्पन्नो भवति" सुषुप्ति के सम्बन्ध में कहा है कि जब जीव अपने स्वरूपभूत आत्मा में निमग्न होता है, तब हृत्पिड की गति से नाड़ियाँ गतिमान् होती हैं, यही सुषुप्ति है।

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—अतः=इसलिए, अस्मात्=इस आत्मस्वरूप से, प्रबोधः=जागना (कहा गया है)।

व्याख्या—सुषुप्ति में जीवात्मा का हृदय में स्थित रहना कहा गया है और जो वस्तु जिसमें लीन होती है, वहीं से उसका प्राकट्य है, इस न्याय से आत्मा-रूप हृदय में लय हुआ जीव, हृदय स्थान से ही जाग उठता है।

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, स एव=वह जीवात्मा ही (जागता है) क्योंकि, कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः=कर्म, अनुस्मृति, शब्द और विधि की सिद्धि तभी संभव है।

व्याख्या—जो सोता है, वही जागेगा। आत्म स्वरूप में स्थित होने के पश्चात् प्रबोध काल में किसी दूसरे के जागने का प्रश्न ही नहीं उठता। सोवे कोई और जागे कोई इससे तो सब व्यवस्था ही विपरीत हो जायगी। निम्न चार कारणों से यह बात सिद्ध भी होती है। (१) कर्म—सोने से पहिले जिन कर्मों को उसे करना था, जागने पर उन्हीं कर्मों को पूर्ण करना शेष होने से, (२) अनुस्मृति—सोने से पहिले की बातों के याद रहने से कि मैंने सोने से पहिले यह देखा, सुना या किया था, (३) शब्द—शब्द प्रमाण से अर्थात् श्रुतियों में जो सोता है उसी के जागने की बात कही है। छान्दोग्य के अनुसार 'जो जीव सोने से पहिले व्याघ्र, सिंह, पतंग, मच्छर आदि था, वह जागने पर वैसा ही रहता है और (४) विधि—श्रुतियों में मोक्ष के लिए कर्म करने की जो आज्ञा दी गई है, उसका पालन भी जो सोता है, उसी के जागने से होगा क्योंकि सोजाने से ही मुक्ति नहीं हो सकती, उसके लिए वेद-विधि से कर्म करना आवश्यक है।

मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—मुग्धे=मूर्च्छित् अवस्था में, अर्द्धसम्पत्तिः= सुषुप्ति की अधूरी अवस्था माननी चाहिए क्योंकि, परिशेषात्= यही शेष अवस्था है।

व्याख्या—मरने से पहिले जीव की तीन अवस्था—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति कही गई हैं। मुग्ध अवस्था तो कभी किसी को ही प्राप्त होती है। इसके लक्षण सुषुप्ति के-से ही होते हैं। इसमें आधी सुषुप्ति और आधी जाग्रत् जैसी अवस्था होती है। उस समय प्रसन्न मुख, उन्मीलित नेत्र परन्तु चेहरा विवर्ण दिखाई देने से उसे सोता-जागता कुछ भी नहीं कह सकते। इसलिए मुग्धावस्था को अर्द्ध सुषुप्ति कहा गया है।

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंगं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—स्थानतः=स्थान से, अपि=भी, परस्य=परब्रह्म का, न=दोष-संसर्ग नहीं होता, हि=क्योंकि, सर्वत्र=सब जगह, उभयलिङ्गम्=उसे दोनों लक्षणों से सम्पन्न कहा गया है।

व्याख्या—परब्रह्म को श्रुतियों ने दो स्वरूप वाला कहा है। श्वेताश्वतर ने उसे निर्विशेष कहा है और विभिन्न दिव्य गुणों से सम्पन्न भी बताया है। "अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्" इस कंठ श्रुति के अनुसार 'इस जीव के हृदय रूप गुहा में स्थित ब्रह्म छोटे से छोटा और महान् से महान् है।' इस प्रकार परब्रह्म दोनों ही लक्षणों से युक्त है, यह कहना युक्ति-सङ्गत ही है। वह प्राणियों के हृदय स्थान में रहकर भी, उनके दोषों से निर्लिप्त रहता है और परस्पर विरोधी लक्षणों का उसमें रहना किसी प्रकार की अतिशयोक्ति की बात नहीं है।

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ।। १२ ।।

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहा कि, भेदात=गुण-भेद से, न=(एक ही ब्रह्म) नहीं हो सकता, तो, इति न=ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्येकम्=प्रत्येक श्रुति में, अतद्वचनात्=वैसा नहीं कहा है।

व्याख्या—यदि यह कहो कि लक्षण वाला कहने से यहां ब्रह्म का वर्णन नहीं माना जा सकता क्योंकि दो गुण से एक ब्रह्म का ही बोध निरर्थक है। एक ओर उसे सर्वगुण सम्पन्न कहा है, तो दूसरी ओर अपर ब्रह्म कहा है, एक ओर उसके निर्विशेष स्वरूप का प्रतिपादन किया है तो दूसरी ओर उसे ब्रह्म भी कहा गया है, यह दोनों लक्षण एक में न हो सकने से ब्रह्म का उभयलिङ्गत्व सिद्ध नहीं होता, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुतियों ने उसके लक्षणों को मान्यता दी है। किसी-किसी श्रुति ने वैसा नहीं कहा है। परन्तु, अधिकांश श्रुतियाँ उस ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का प्रतिपादन करती हैं। श्वेताश्वतर में एक ही ब्रह्म को सूर्य के समान स्वयं प्रकाश और मायातीत कहा है। श्वेताश्वतर में ही उसके सब स्थानों पर मुख, शिर आदि अंगों का होना कहा है। इस प्रकार अनेक स्थलों पर श्रुतियों ने ब्रह्म को दोनों लक्षणों वाला प्रतिपादित किया है।

अपि चैवमेके ।। १३ ।।

सूत्रार्थ—च=और, एके=एक शाखा वाले, च=भी, एवम्=इसी प्रकार कहते हैं।

व्याख्या—एक शाखा वाले विद्वान् तो विशेष रूप से इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। तैत्तरीयोपनिषद् में उसी ब्रह्म को सत्य, ज्ञान और अनन्त कहा है। उसी के भय से वायु की गति, सूर्योदय और अग्नि इन्द्र, मृत्यु आदि का अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होना बताया है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म को दो लक्षणों से सम्पन्न मानना युक्तिसंगत ही है।

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।। १४ ।।

सूत्रार्थ हि=क्योंकि, अरूपवत्—लक्षण-रहित के समान, एव=ही, तत्प्रधानत्वात्=उसके रूपत्त्व की भी प्रमुखता है।

व्याख्या - जिस प्रकार श्रुतियों में ब्रह्म को लक्षण रहित कहा गया है, उसी प्रकार श्रुतियाँ उसके रूप को भी प्रमुखता देती हैं। "एको देव: सर्वभूतेषु" इत्यादि श्वेताश्वतर श्रुति के अनुसार वही एक ब्रह्म दोनों स्वरूपों से सम्पन्न है। इससे ब्रह्म का निर्गुणत्व और सगुणत्व दोनों ही सिद्ध होते हैं।

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।। १५ ।।

सूत्रार्थ—च=और, प्रकाशवत्=प्रकाश के समान, अवैयर्थ्यात्=वेद-वाक्यों के अव्यर्थ होने से (ब्रह्म के दो लक्षण मानना ठीक है।)

व्याख्या—जैसे ज्योति के रूप माने गए हैं प्रकट और छिपा हुआ, वैसे ही ब्रह्म के दोनों रूपों को मानना भी व्यर्थ नहीं है। ब्रह्म को उपास्य मानने के लिए, उसके दोनों रूपों को समान मानना आवश्यक है। किसी को प्रमुखता देना और किसी को गौण मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस को गौण मानेंगे, उस रूप में निष्ठा का भाव कम रहेगा। ब्रह्म का ध्यान करने के लिए उसके सगुण रूप को स्वीकार करना अनुचित नहीं है क्योंकि मन में किसी रूप को धारण किये बिना ध्यान करना सम्भव नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म के दोनों रूपों का मानना सार्थक है और श्रुतियाँ भी इसका समर्थन करती हैं।

आह च तन्मात्रम् ।। १६ ।।

सूत्रार्थ—तन्मान्त्रम्=ब्रह्म चेतन मात्र है, सगुण रूप नहीं, च=यही, आह=श्रुति कहती है।

व्याख्या—ब्रह्म को साकार रूप वाला कहना मिथ्या है, क्योंकि श्रुति ने उसे "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" अर्थात् 'ब्रह्मसत्य, ज्ञान और अनन्त' कहा है। इस श्रुति से उसका सगुणत्व सिद्ध नहीं होता।

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ।। १७ ।।

सूत्रार्थ—अथो=इसके बाद, दर्शयति=श्रुति उसे अनेक रूपों वाला भी दिखाती है, च=और, स्मर्यते=स्मृति में, अपि=भी उसे सगुणात्मक कहा गया है।

व्याख्या—परमात्मा के अनेक रूपों का श्रुतियों और स्मृतियों में वर्णन होने से उसके सगुण रूप को अस्वीकार नहीं कर सकते। गोपाल-तापिनी में "सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरं द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्" अर्थात् 'सत्पुण्डरीकनेत्र, मेघवर्ण, बिजली रूप वस्त्र-धारी, दो भुजा वाले, मौनमुद्रायुक्त और वनमालाधारी ईश्वर' कहा है। इस प्रकार के अनेकानेक उदाहरण विभिन्न श्रुति-स्मृतियों में भरे पड़े हैं, जिनसे ब्रह्म का दोनों लक्षण युक्त होना सिद्ध होता है।

अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् ।। १८ ।।

सूत्रार्थ—च=तथा, अतएव=इसी कारण, सूर्यकादिवत्=सूर्य आदि के समान, उपमा=उपमा दी है।

व्याख्या—जल में सूर्य आदि का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह एक से अनेक रूप हो जाता है, उसी के उदाहरण से यह समझाया गया है कि सर्वव्यापक ब्रह्म सगुण, निर्गुण के भेद से, पृथक्-पृथक् नहीं, किन्तु एक ही है। सूर्य, चन्द्रमा आदि में स्वाभाविक गुण हैं उसी प्रकार ब्रह्म के सर्वव्यापकता, सत्यसंकल्पता, सर्वज्ञता आदि गुण स्वाभाविक हैं। ऊपर जो प्रतिबिम्ब का वर्णन हुआ है, उसमें यही मानना चाहिए कि अभिन्न वस्तु में कभी बिम्ब-प्रतिबिम्ब का भाव नहीं होता है। जो परमात्मा विभाग रहित अर्थात् अविभक्त है, वह निर्गुण होते हुए भी सब प्राणियों

में विभक्त के समान निवास करता है, ऐसा श्रुतियों में कहा गया है।

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—तु=परंतु, अम्बुवत्=जल में स्थित चन्द्रमा के समान, अग्रहणात्=ब्रह्म का ग्रहण न होने से, तथात्वम्=उसी प्रकार का, न=नहीं मानना चाहिए।

व्याख्या—ऊपर जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा का दृष्टान्त देकर ईश्वर के अनेक रूप होने की बात कही गई है, परन्तु, चन्द्रमा की वह उपमा पूरी तरह ब्रह्म पर नहीं घटती, क्योंकि जल में दिखाई देने वाला चन्द्रमा उसकी छाया मात्र ही है, उसके समान सब के हृदय में ब्रह्म की छाया नहीं रहती, किन्तु ब्रह्म स्वयं ही स्थित रहता है। इस उपमा से यही समझना चाहिए कि चन्द्रमा अपने प्रतिबिम्ब द्वारा एक से अनेक दिखाई देता है, किन्तु, ब्रह्म तो सभी जीवात्माओं के हृदय में एक रूप से स्थिर रहता हुआ अनेक रूप दिखाई देता है।

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥२०॥

सूत्रार्थ—अन्तर्भावात्=शरीर के भीतर रहने से, वृद्धिह्रास-भाक्त्वम्=ब्रह्म का शरीर के अनुपात से घटना-बढ़ना न होने से, उभयसामञ्जस्यात्=मूर्त्त और प्रतिबिम्ब की समानता की, एवम्=इस प्रकार उपमा दी है।

व्याख्या—उपमा और उपमेय दोनों की एकता हो तो वह उपमा नहीं कही जा सकती। उसी प्रकार चन्द्रमा और उसके प्रतिबिम्ब से ब्रह्म और उसके प्रतिबिम्ब की भी एकता नहीं हो सकती। यहाँ चन्द्रमा उपमा मात्र है, उसमें गुणों की न्यूनता होना सम्भव ही है। किंतु ब्रह्म और उसके प्रतिबिम्ब में समानता है, वह स्वयं ही सब प्राणियों में स्थित है। यदि शङ्का करें कि शरीर में स्थित रहने के कारण वह उसके अनुपात से घटता-बढ़ता भी होगा ? तो परमात्मा शरीर के किसी विकार में लिप्त

नहीं होता, इसलिये शरीर के घटने-बढ़ने का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह सब में समान भाव से स्थित रहता है।

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—दर्शनात्=अन्य श्रुतियों में ऐसा देखे जाने से, च=भी यह मान्यता ठीक है।

व्याख्या—सूर्य और चन्द्रमा के प्रतिबिम्बों के पानी में रहने पर भी पानी के गुण उन्हें व्याप्त नहीं करते अथवा आकाश घड़े या शकोरे में रहकर भी उनके गुणों से सम्बन्ध नहीं रखता। उसी प्रकार ब्रह्म भी शरीरों में रहकर उनके गुणों से सम्बन्ध नहीं रखता, इसीलिए उसे निर्विकार कहा गया है। इस प्रकार के बहुत से वर्णन श्रुतियों में मिलते हैं, जिनसे ब्रह्म का निर्लिपत्व सिद्ध होता है।

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीत च भूयः ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—प्रकृतैतावत्त्वम्=प्रकरण प्राप्त इयत्ता का, प्रतिषेधति=श्रुति निषेध करती है, हि=क्योंकि, ततः=उसके आगे, भूयः=फिर, च=भी, ब्रवीति=कहती है।

व्याख्या—पूर्व श्रुति ने ब्रह्म के मूर्त्त-अमूर्त्त दो रूप कहे हैं। प्रतिषेध के बाद भी ब्रह्म के सत्य नाम रूपों का वर्णन किया गया है। अपरिमेय ब्रह्म का प्रतिपादन करने के लिये 'नेति-नेति' वाक्य का प्रयोग हुआ है, 'इति न' अर्थात् साकारता निरूपण के बाद रूप की इयत्ता का निषेध करने के लिये 'नेति' शब्द कहा गया है। इसका अर्थ हुआ कि 'नेति' शब्द का प्रयोग परमात्मा के सगुणत्व का निषेध करने के लिए नहीं, 'इयत्ता' अर्थात् वह इतना ही है, इस सीमित भाव के निषेध रूप में हुआ है। इस शब्द के द्वारा ब्रह्म की असीमता सिद्ध होती है।

तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—हि=क्योंकि, तत्=उस ब्रह्म को, अव्यक्तम्=न्द्रियों से ग्रहण न किया जाने वाला, आह=श्रुति कहती है।

व्याख्या—श्रुति ने उस ब्रह्म को इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य कहा है। ुण्डकोपनिषद् (३।१।८) "न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा र्मणा वा" के अनुसार 'न नेत्र से, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से अथवा तप और कर्म से भी वह ब्रह्म ग्रहण नहीं किया जा सकता।" यह ह्म के अव्यक्तत्व का प्रतिपादन हुआ। अब मुण्डकोपनिषद् के ही ३।१।३) में 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" ा जीवात्मा द्वारा सबके शासक, ब्रह्मा के भी जन्मदाता, जगत् के रच-यिता, दिव्य प्रकाश रूप, परम पुरुष ब्रह्म का साकार कर लेना कहा है। इसमें 'रुक्मवर्णं' से उनका नाम रूपत्व प्रतिपादित होता है और 'पश्यते' े भी उनके साकारत्व की सिद्धि होती है।

अपि च संरानेधप्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—अपि च=इस प्रकार अव्यक्तत्व होने पर भी, संराधने=आराधना करने से, प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्=और अनुमान द्वारा भी सिद्ध है।

व्याख्या—जैसे ब्रह्म का अव्यक्त होना जहाँ प्रतिपादित किया गया है, वैसे ही उसके प्रकट रूप का प्रतिपादन भी श्रुति प्रमाणों तथा युक्तियों से हो जाता है। गीता में भी "नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया, भक्त्या त्वनन्यथा शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन" अर्थात् 'वेद, तप, दान, यज्ञ द्वारा मुझे नहीं जाना जा सकता, किन्तु अनन्य भक्ति के द्वारा ही जाना जा सकता है।' इन प्रमाणों से ब्रह्म का अगुणत्व और निर्गुणत्व दोनों ही सिद्ध होता है।

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्य भ्यासात् ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—प्रकाशादिवत्=प्रकाश आदि गुणों के समान च=ही, अवैशेष्यम्=विशष्टता न होने से, प्रकाशः=प्रकाश च=भी, कर्मणि=कर्म में, अभ्यासात्=अभ्यास करने से ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—जैसे अग्नि, विद्युत् आदि अपने प्रकट रूप में प्रकाश और उष्णता प्रधान गुणों से युक्त रहते हैं और प्रकट न रहने पर भी उनके वे गुण विद्यमान रहते हैं, वैसे ही अव्यक्त ब्रह्म के गुणों में भी किसी प्रकार के अन्तर की विशेषता नहीं होती। अर्थात्—जो स्वभाव निर्गुण ब्रह्म का है, वही स्वभाव सगुण ब्रह्म का रहता है, उसमें कोई भेद उपस्थित नहीं होता। जैसे अग्नि आदि प्रकाश का प्रकट होना उनके साधन और कर्म पर निर्भर है, वैसे ही ब्रह्म से साक्षात्कार करने के लिए भी उनकी आराधना आदि कर्मों का अभ्यास करना आवश्यक है क्योंकि अभ्यास से ही कर्म की सिद्धि होती है और कर्म-सिद्ध हो जाने पर ही ब्रह्म के प्रकट रूप में दर्शन कर सकते हैं।

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—अतः=इन कारणों से, अनन्तेन=ब्रह्म की अनन्तता सिद्ध होती है, हि=क्योंकि, तथा=वैसे ही, लिङ्गम्=लक्षण मिलते हैं।

व्याख्या—उपरोक्त कारणों से ब्रह्म का अनन्त होना सिद्ध होता है क्योंकि ब्रह्म में अनन्त रूप होने के लक्षण हैं। श्रुतियों और स्मृतियों ने उनके विभिन्न नाम, रूपों का वर्णन कर उनके अनन्त गुणत्व का प्रतिपादन किया है।

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुंडलवत् ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ— उभयव्यपदेशात=दोनों प्रकार का वर्णन होने से, अहिकुण्डलवत्=सर्प की कुण्डली के समान, तु=ही (उसका भाव प्रतिपादित हुआ है)।

व्याख्या—जैसे सर्प कभी अपने देह को संकुचित कर कुण्डली बना कर बैठता है और कभी वह अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहता है किन्तु, दोनों अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार का दिखाई देने पर भी वह सर्प एक ही रहता है, वैसे ही ब्रह्म का कारण भाव में रहना और कार्य भाव में रहना भिन्न प्रकार से दिखाई देने पर भी ब्रह्म एक ही रहता है। ब्रह्म को निराकार कहने वाली श्रुति उसकी कारणावस्था का बोध कराती है और साकार बताने वाली श्रुति उसकी कार्यावस्था का प्रतिपादन करती है। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि दोनों रूपों में भी ब्रह्म का अभिन्नत्व विद्यमान रहता है।

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, प्रकाशाश्रयवत्=प्रकाश और उसके आश्रय के समान उनका अभिन्नत्व है, क्योंकि तेजस्त्वात्=तेज के उदाहरण से उनको अभेद माना है।

व्याख्या—जैसे प्रकाश और उसका आधार रूप सूर्य दोनों ही तेज तत्वात्मक होने से भेद रहित हैं, फिर भी वे दोनों अलग-अलग माने जाते हैं, वैसे ही ब्रह्म और उसकी शक्ति रूप प्रकृति में कोई भिन्नता न होने पर भी उन्हें अलग-अलग कहा गया है। इस प्रकार तेज के उदाहरण से ब्रह्म और प्रकृति का अभेदत्व प्रतिपादित किया गया है।

पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, पूर्ववत्=पहिले के समान ही अभेदत्व समझ लना चाहिए।

व्याख्या—जैसे पूर्वोक्त सूत्र में ब्रह्म का जीवात्मा से अभिन्न होना कहा गया है, और उसके लिए उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वैसे ही यहाँ ब्रह्म और प्रकृति का अभिन्न होने की मान्यता ठीक है।

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—प्रतिषेधात्=अन्य का निषेध होने से, च=भी (अभेदत्व समझना चाहिए)

व्याख्या—'जगत् की उत्पत्ति से पहिले एक मात्र ब्रह्म ही था' इस श्रुति-वाक्य में अन्य का निषेधात्मक पक्ष सिद्ध होता है। इससे प्रकृति का ब्रह्म में विलीनीकरण होने से प्रकृति और पुरुष की अभिन्नता का ही प्रतिपादन होता है।

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ—अतः=इस जड़ चेतन समुदाय से, परम्=ब्रह्म श्रेष्ठ है, क्योंकि सेतून्मानसम्बन्ध=सेतु, उन्मान सम्बन्ध (और), भेदव्यपदेशेभ्यः=भेद पूर्वक वर्णन करने से यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—जड़-चेतनात्मक जगत् की कारणभूता जिन परा और अपरा प्रकृतियों का वर्णन देखा जाता है, उन प्रकृतियों से ब्रह्म को परम् श्रेष्ठ और विलक्षण माना गया है। श्रुति में ब्रह्म का श्रेष्ठत्व सिद्ध करने के चार कारण माने गए हैं—(१) सेतु, (२) उन्मान, (३) संबन्ध और (४) भेद। सेतु का वर्णन छांदोग्य में "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः" से कर ब्रह्म को सब का धारण करने वाला सेतु बताया है। उन्मान के विषय में "पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" से 'सब प्राणी ब्रह्म के एक पाद में और शेष तीन पाद अमृत रूप दिव्य-लोक में कहे हैं। उन्मान का अर्थ सबसे बड़ा परिमाण है और इस श्रुति में भी ब्रह्म को

[म]हानता का प्रतिपादन किया है। संबन्ध के विषय में 'ईश्वर के भी [ई]श्वर' 'देवताओं के भी देवता' आदि श्रुति-वाक्य मिलते हैं, जिनमें [स्]वामी-सेवक भाव के प्रतिपादन द्वारा संबन्ध को सिद्ध किया है। चौथे [ह]ेतु भेद का प्रतिपादन भी श्रुतियों ने किया है और ब्रह्म को जड़-चेतन का कारण बताकर जीवात्मा को साधक और ब्रह्म को साध्य प्रतिपादित कर इनमें भेद होना सिद्ध किया है। इन कारणों से यह मान्यता सर्वथा युक्तिसंगत है।

सामान्यात्तु ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ—सामान्यात्=भेद,अभेद का वर्णन तो समान भाव से है, तु=तो इससे दोनों पक्ष की मान्यता सिद्ध होती है।

व्याख्या—श्रुतियों ने ब्रह्म को जीवात्मा से भिन्न और अभिन्न दोनों प्रकार का माना है।' 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः'' अर्थात् 'यह ब्रह्म सब का ईश्वर, भूतों का अधिपति है' (बृह० ४।४।२२)अथवा "एष त आत्मान्तर्यम्यमृतः'' से उसका अन्तर्यामी होना कहा है। भेद प्रतिपादन करने वाली ऐसी बहुत श्रुतियाँ हैं तथा अभेद की प्रतिपादक श्रुतियाँ भी उपलब्ध हैं जैसे "अयमात्मा ब्रह्म'' अर्थात् 'यह आत्मा ब्रह्म है' अथवा "तत्त्वमसि'' 'वह ब्रह्म तू ही है।' इस प्रकार दोनों पक्षों का प्रतिपादन करते हुए, किसी को विशेष और किसी को अविशेष नहीं कहा है। ब्रह्म के दोनों रूपों का श्रुतियों ने समान भाव से वर्णन किया है, इससे दोनों पक्षों की मान्यता पूर्णतया सिद्ध होती है।

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ—पादवत्=ब्रह्म के चार पादों का वर्णन किये जाने के समान ही, बुद्ध्यर्थः=उपासना के लिए वैसा उपदेश किया है।

व्याख्या—जैसे ब्रह्म तत्त्व का पूर्ण विवेचन करने के लिए चार

पादों की कल्पना की गई है, वैसे ही भेद या अभेद भाव को मानते हुए उपासना करने का उपदेश उस ब्रह्म का बोध कराने के उद्देश्य से ही किया गया है। चाहे भेद-से अथवा अभेद-से किसी प्रकार भी उपासना की जाय, उसका फल एक प्रकार का ही है। वे दोनों प्रकार की उपासनाऐं एक ब्रह्म की ही उपासना माननी चाहिए।

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्॥ ३४॥

सूत्रार्थ—प्रकाशादिवत्=प्रकाश आदि के समान, स्थान विशेषात्=देह, रूप, स्थान की विशेषता होने से विभिन्न होना असङ्गगत नहीं है।

व्याख्या—जैसे सभी प्रकाशमान पदार्थ समान तत्त्व वाले होने से एक ही हैं, परन्तु, उनमें सूर्य, चन्द्र, अग्नि, ग्रह, नक्षत्र, तारे आदि के रूप और स्थान में होने से उनमें विभिन्नता दिखाई देती है, वैसे ही जड़-चेतन रूपात्मक सभी जीव अपने फल-प्राप्ति रूप से अनेक प्रकार के दिखाई देते हैं, वैसे वे ब्रह्म की प्रकृतियों के संबंध से एक प्रकार के ही हैं।

उपपत्तेश्च॥ ३५॥

सूत्रार्थ—उपपत्तेः=श्रुति के वर्णन द्वारा, च=भी (यह मान्यता ठीक है)।

व्याख्या—श्रुति में प्रथम एक मात्र ब्रह्म का अस्तित्व बताकर फिर उसे जगत् का कारण रूप कहा है, फिर ब्रह्म को अपने से भिन्न कहकर उसकी उपासना का उपदेश दिया है। फिर उसे ही उस विश्व का स्रष्टा आदि कहकर जीव के कर्म-फल रूप बन्धन और मोक्ष का विधान कर्त्ता बताया है तथा जीवों की उत्पत्ति का निषेध कर उनके कर्म-संस्कारों को परम्परागत कहा है। इस सब पर विचार करने से जीव-मात्र का अभिन्नत्व रहते हुए भी, कर्म-फल आदि की विभिन्नता के कारण

सब पृथक्-पृथक् हैं। ब्रह्म में विलीन होने और उसी से प्रकट होने के कारण ब्रह्म के ही अंशभूत हैं और ब्रह्म उनका नियामक होने से तो भिन्न है ही, साथ ही जीव से विशिष्ट और विलक्षण होने के कारण भी उसका भिन्नत्व सिद्ध होता है।

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ—तथा=और, अन्य प्रतिषेधात्=अन्य का निषेध होने से भी यही मान्यता ठीक है।

व्याख्या—ब्रह्म से भिन्न अन्य किसी की सत्ता को श्रुतियों ने स्वीकार नहीं किया है, यह बात ऊपर अनेक बार कही जा चुकी है। जब अन्य का अस्तित्व है ही नहीं, तो एक मात्र ब्रह्म का ही विभिन्न रूपों में प्रकट होना स्वीकार करने में ही विरोध क्यों होना चाहिए। इससे उपरोक्त मान्यता की सिद्धि होती है।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ—अनेन=इस प्रकार के विवेचन द्वारा, आयाम-शब्दादिभ्यः=ब्रह्म के व्यापकत्व सूचक शब्द आदि से भी, सर्वगतत्वम्=उसका सब में व्याप्त होना मान्य होता है।

व्याख्या—ब्रह्म के सर्वव्यापक होने के अनेक प्रमाण श्रुतियों में मिलते हैं। "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" इस पुरुष से सब पूर्ण हैं, अथवा "ब्रह्मवेदं सर्वम्" 'यह सब ब्रह्म ही है' आदि प्रमाणों से ब्रह्म की सर्व-व्यापकता का प्रतिपादन होता है।

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थ—फलम्=कर्म-फल, अतः=इस परमात्मा से ही उपपत्तेः=मानना उपयुक्त है।

व्याख्या—सब जीव परमात्मा के आश्रय में ही अपने कर्म-फल

रूप भोग को प्राप्त करते हैं क्योंकि कर्मों का ज्ञाता एवं सर्वशक्तिमान् होने से ब्रह्म ही यह सामर्थ्य रखता है। जड़ प्रकृति अथवा जीवात्मा स्वयं इसमें समर्थ नहीं हैं। इससे कर्म-भोग की व्यवस्था करने वाला ब्रह्म ही सिद्ध होता है।

श्रुतत्वाच्च ।। ३९ ।।

सूत्रार्थ—श्रुतत्वात्=श्रुति में कहा होने से, च=भी यही मान्यता ठीक है।

व्याख्या—यह बात श्रुतियों में भी बार-बार कही गई है कि ब्रह्म ही जीवों के कर्म-फल का द्रष्टा है। तैत्तरीय उपनिषद में भी ब्रह्म को ही 'महान् अज आत्मा कर्म-फल देने वाला' कहा है। अन्य श्रुतियां भी इसी प्राकार कहती हैं, इससे कर्म-फल का देने वाला ब्रह्म ही सिद्ध होता है।

धर्म जैमिनिरत एव ।। ४० ।।

सूत्रार्थ—अत एव=इसलिए, जैमिनिः=आचार्य जैमिनि, धर्मम्=धर्म को ही फल देने वाला बताते हैं।

व्याख्या—जिस कर्म से फल की उत्पत्ति होती है, वह कर्म ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, 'धर्म कर्म का ही पर्याय है। जैमिनि आचार्य के मत में कर्म ही फल का देने वाला है। इस प्रकार भी श्रेष्ठ कर्म से शुभ फल की प्राप्ति और निकृष्ट कर्म से अशुभ फल की प्राप्ति होना सिद्ध होता है।

पूर्वं तू बादरायणा हेतुव्यपदेशात् ।। ४१ ।

सूत्रार्थ—तु=किन्तु, बादरायण=आचार्य बादरायण, पूर्वम्=पहिले कहे अनुसार ब्रह्मको ही कर्म फल का देने वाला कहते हैं, क्योंकि, हेतुव्यपदेशात्=श्रुतियां भी उसे कारण रूप कहती हैं।

व्याख्या—आचार्य बादरायण जैमिनि के मत से सहमत नहीं हैं और वे कर्म को निमित्त मात्र ही मानते हैं, क्योंकि कर्म तो जड़ और अनित्य हैं और जो जड़ या अनित्य है, वह फल की व्यवस्था कैसे कर सकता है ? इससे ब्रह्म ही सब के कर्म-फल का देने वाला होता है। यही बात सब श्रुतियाँ कहती हुई ब्रह्म को ही सब का कारण रूप बताती हैं।

॥ द्वितीयः पादः समाप्त ॥

तृतीय पादः

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—सर्व वेदान्तप्रत्ययम्=सब वेदों में एक विद्या का ही कथन होने से, चोदनाद्यविशेषात्=सब के उपदेशों में समानता है।

व्याख्या—वेदादि में विभिन्न प्रकार से आध्यात्मिक कर्म विद्या का वर्णन होने पर भी उनके विधि-विधान में समानता है, और उस विद्या का फल एक मात्र भगवत् प्राप्ति ही बताया गया है क्योंकि सभी कर्म केवल ब्रह्म का ज्ञान कराने के लिए हैं। इस प्रकार उपासना में भेद होने पर भी किसी उपदेश में असमानता नहीं है।

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—इति चेत्=यदि ऐसा कहो कि, भेदात्=वहाँ भेद-पूर्वक वर्णन है, इसलिए, न=समानता प्रतीत नहीं होती, तो, इति न=ऐसा नहीं है, क्योंकि, एकस्याम्=एक विद्या में, अपि=भी (अनेक प्रकार से प्राप्ति कही जा सकती है)।

व्याख्या—उस ब्रह्म को कहीं सर्वज्ञ, कहीं विज्ञान-आनन्द रूप, कहीं सर्व व्यापक, कहीं सगुण ब्रह्म आदि कह कर उपासना विधि भी उसी के अनुरूप बताई गई है, इस प्रकार के भेद पूर्वक वर्णन से श्रुति वाक्यों की एकता सिद्ध नहीं होती। यदि ऐसा कहो तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सभी श्रुति, स्मृतियों ने जगत् की उत्पत्ति से पहिले एक मात्र ब्रह्म को ही कारण रूप से स्थित कहा है और वे सभी उस ब्रह्म की उपासना के उद्देश्य से ही कर्म-विधि का निर्देश करती हैं, परन्तु शैली और भाव के अनुसार उनके विधान में अन्तर हो सकता है। उससे सिद्ध होता है कि अनेक प्रकार से उपासना-विधि कह कर भी एक ही ब्रह्म की प्राप्ति का उद्देश्य उनमें निहित रहता है।

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—स्वाध्यायस्य=अध्ययन के, तथात्वेन=उस प्रकार होने से, च=और, समाचारे=आथर्वणिक शाखा के उपदेश में, अधिकारात्=अधिकार होने से, च=और, सववत्=‘सव’ होम के समान, हि=ही, तन्नियमः=उस शिरोव्रत का नियम है।

व्याख्या—आथर्वणिक शाखा के मुण्डकोपनिषद् (३।२।१०) में “तेषामेवैतां ब्रह्म विद्यां वदेत शिरोव्रतंविधिवद्यैस्तु चीर्णम्” से कहा है कि ‘ब्रह्म विद्या का उपदेश उन्हीं को करे, जिन्होंने विधि सहित शिरोव्रत किया हो’ इसके बाद मुण्डको० (३।२।११) में “नेतदऽचीर्णव्रतोऽधीते” अर्थात् ‘जिससे शिरोव्रत नहीं किया, वह इस ब्रह्मविद्या का अध्ययन नहीं कर सकता। इस प्रकार उन्होंने शिरोव्रत पालन का स्पष्ट निर्देश किया है, ऐसा ही उन्होंने ‘सव’ होम का विधान किया है। तो, यह दोनों नियम केवल उस शाखा वाले अनुयायियों के लिए हैं, अन्य शाखा वालों

के लिए नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि अन्य शाखा वाले विद्वान् शिरोव्रत के बिना ही ब्रह्मविद्या के उपदेश प्राप्ति का अधिकार मानते हैं। इस प्रकार के शाखान्तर्गत नियमों के भेद से ब्रह्मविद्या की समानता में कोई अन्तर नहीं आता।

दर्शयति च ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—च=और, दर्शयति=श्रुति ऐसा ही दिखाती है।

व्याख्या—श्रुतियों ने भी ब्रह्म विद्या का भिन्नत्व प्रतिपादित नहीं किया है। कठोपनिषद् में "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" से स्पष्ट कर दिया है कि सब वेद उसी परम प्राप्य ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। इससे सिद्ध है कि ब्रह्मविद्या एक ही है और विभिन्न प्रकार से कही जाने पर भी उसमें कोई भेद नहीं है।

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥५ ॥

सूत्रार्थ—समाने=एक-सी विद्या में, च=ही, अर्थाभेदात्=अर्थ का भेद होने से, उपसंहार=एक स्थान के गुण अन्य स्थान पर, विधिशेषवत्=विधि शेष के समान (कर लेना, ठीक ही है)।

व्याख्या—जैसे कर्मकाण्ड में, भिन्न प्रयोजन न होने पर, एक शाखा के अग्निहोत्रादि के नियम उपसंहार रूप से, अन्य शाखा वाले स्वीकार कर लेते हैं, वैसे ही विभिन्न प्रकार से कही जाने वाली ब्रह्म विद्या में भी, प्रयोजन में भिन्नता न होने पर, एक शाखा की विशिष्ट विधि को, अन्य शाखा वाले ग्रहण कर लेते हैं।

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, शब्दात्=शब्द द्वारा अन्यथात्वम्=दोनों की भिन्नता कही है तो, इति न=ऐसा नहीं

है क्योंकि, अविशेषात्=विधि और फल में कोई विशेषता नहीं है।

व्याख्या– यदि यह कहो कि दोनों प्रकार से विद्या का वर्णन होने से वे दो विद्याऐं पृथक्-पृथक् हैं, क्योंकि छान्दोग्य में दहर विद्या और प्राजापत्य विद्या से दो प्रकार की विद्याओं का वर्णन किया गया है। दहर विद्या के प्रकरण में 'मनुष्य देह रूप ब्रह्मपुर में, हृदय रूप गृह में, अन्तराकाश के भीतर वाली वस्तु, को जानने का उपदेश है और प्राजापत्य विद्या के प्रकरण में 'अपहतपाप्मा' आदि विशेषता वाले आत्म-ज्ञान का उपदेश है। इस प्रकार दोनों विद्याओं के भिन्नत्व के कारण, वे एक नहीं है। परन्तु, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दहर विद्या में जिसे जानने योग्य कहा गया है, उसी ब्रह्म को प्रजापत्य विद्या में 'आत्मा' रूप से जानने योग्य बताया है। इस प्रकार दोनों विद्याओं का भिन्न प्रकार से वर्णन होने पर भी वे एक ही हैं।

न वा प्रकरणभेदात्परोऽवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ-वा=अथवा, परोऽवरीयस्त्वादिवत्=परम श्रेष्ठ अथवा सामान्य गुण वाली अन्य विद्याओं के समान, प्रकरण-भेदात्=प्रकरण भेद से, न=भिन्नता सिद्ध नहीं होती।

व्याख्या— छान्दोग्य में उद्गीथ के अवयव प्रणव की जो उपासना बताई गई है, उसमें उद्गीथ को प्रणव (ओंकार) के साथ एकाकार किया है। यह उद्गीथ विद्या अत्यन्त श्रेष्ठ फल वाली है। किन्तु बृहदा-रण्यक में जिस उद्गीथ-विद्या का प्रतिपादन हुआ है, वह प्राणों की उत्कृष्टता और यज्ञादि में उद्गीथ-गान द्वारा स्वर की विशिष्टता प्रदर्शित करने वाली है। इसमें छान्दोग्य की उद्गीथ-विद्या के समान श्रेष्ठ फल का भी निर्देश नहीं है। दोनों उपनिषदों में देवासुर सम्वाद रूप विषय की समानता होने पर भी उपासना-विधि में भिन्नता है। इस प्रकार की भिन्नता दहर विद्या और प्राजापत्य विद्या में नहीं है, क्योंकि उसमें

वर्णन मात्र का भेद है। इसलिए इन दोनों विद्याओं का भिन्न होना सिद्ध नहीं होता।

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, संज्ञातः=परस्पर संज्ञात्मक भेद होने से (भिन्नता सिद्ध होती है), तु=तो, तदुक्तम्=इसका निराकरण किया जा चुका है, तदपि=तो भी, अस्ति=अन्यत्र इस प्रकार का वर्णन है।

व्याख्या—यदि ऐसा कहो कि दहर विद्या और प्राजापत्य विद्या दोनों में नाम का भेद है, इसलिए यह दोनों पृथक्-पृथक् हैं, तो इसका उत्तर पहिले ही दिया जा चुका है। ब्रह्म-विद्या का विभिन्न श्रुतियों में, विभिन्न नामों से वर्णन हुआ है, परन्तु, उनके नाम की भिन्नता से ब्रह्म-विद्या के एक होने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जिन विद्याओं में नाम आदि का भेद और उद्देश्य भेद है, उन विद्याओं का वर्णन भी श्रुतियों में हुआ है, परन्तु, उन विद्याओं से ब्रह्म विद्या का कोई सम्बन्ध नहीं है।

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—व्याप्तेः=ब्रह्म सर्वव्यापी है, इसलिए, च=भी, समञ्जसम्=ब्रह्म विद्याओं के विभिन्न वर्णन में समानता है।

व्याख्या—ब्रह्म की सर्व व्यापकता प्रसिद्ध है। श्रुतियों में ब्रह्म के सर्वव्यापकत्व को ही प्रतिपादित किया है। स्मृतियाँ भी उन्हें ऐसा ही बताती हैं। इसलिए ब्रह्म विद्याओं का विभिम्न प्रकार से वर्णन होने पर भी वे एक ही हैं और सभी का उद्देश्य केवल ब्रह्म की प्राप्ति ही सिद्ध होता है।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—सर्वाभेदात्—ब्रह्म सम्बन्धी सब विद्याओं के

अभेद से, अन्यत्र=अन्य स्थान पर, इमे=कहे सब हेतुओं का उपयोग हुआ है।

व्याख्या—विभिन्न स्थान पर विभिन्न प्रकार से कही हुई ब्रह्म सम्बन्धी अन्य विद्याओं में भी भेद नहीं है क्योंकि अन्य स्थलों पर कहे हुए सब हेतु ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही निर्दिष्ट हुए हैं। इससे सिद्ध है कि ब्रह्म सम्बन्धी सभी विद्याएँ एक हैं।

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—आनन्दादयः=आनन्द आदि, प्रधानस्य=ब्रह्म के ही गुण हैं, क्योंकि उसी का प्रमुख रूप से वर्णन है।

व्याख्या—ब्रह्म के जिन गुणों का वर्णन श्रुति में एक स्थान पर किया है, उन्हीं गुणों को उपसंहार रूप से अन्य स्थानों पर भी कहा है। इस प्रकार जिन गुणों की विशेषता पहिले कहने से रह गई है, वह अन्यत्र कह दी गई है।

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयाचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः='प्रियशिरत्व' आदि लक्षणों की अप्राप्ति, हि=ही है, क्योंकि, भेदे=इस प्रकार भेद मानने पर, उपचयापचयौ=ब्रह्म में वृद्धि और ह्रास का दोष-प्रसङ्ग आयेगा।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद् (२।५।१) में "तस्य प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तर आनन्द आत्मा" अर्थात् "उस आनन्दमय आत्मा का प्रिय शिर है, मोद दक्षिण और प्रमोद उत्तर पाँख (अर्थात् दांए बाँए हाथ) है' इस प्रकार कल्पना की गई है। यह लक्षण ब्रह्म का नहीं हो सकता, क्योंकि उसे अङ्ग वाला मानने से ब्रह्म में घटने-बढ़ने का भी दोष उपस्थित होगा। इसलिए शिर आदि का वर्णन रूपक के ढङ्ग के कहे गए हैं।

इतरे त्वर्थसामान्यात् ।। १३ ।।

सूत्रार्थ–इतरे=अन्य गुण, तु=तो, अर्थसामान्यात्=अर्थ की समानता के उद्देश्य से कहे गए हैं।

व्याख्या—अवयव की कल्पना वाले गुण तो रूपकमात्र हैं, परन्तु उससे भिन्न 'आनन्द' आदि गुण कहे हैं, वे ब्रह्म के स्वाभाविक गुण हैं, उनका अर्थ भी गुण के समान ही है, इसलिए उन गुणों का कहना युक्तिसङ्गत ही है।

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ।। १४ ।।

सूत्रार्थ—प्रयोजनाभावात्=अन्य प्रयोजन का अभाव होने से, आध्यानाय=ध्यान के लिए ही ब्रह्म के लक्षणों का वर्णन हुआ है।

व्याख्या—इस रूपक में अवयवों का वर्णन करने से किसी अन्य प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, किन्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्म का भले प्रकार चिन्तन हो सके, इसी उद्देश्य से ऐसा वर्णन किया गया है। जो ब्रह्म किसी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता और जो हृदय गुहा में छिपा बैठा है, उसका स्वरूप ज्ञान-बुद्धि के द्वारा ही सम्भव है। रूपक में पुरुष के अङ्गों का पक्षी से तुलनात्मक वर्णन कर प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय पुरुष का वर्णन किया है, इससे सिद्ध होता है कि सूक्ष्म तत्व के विश्लेषण द्वारा एक अंतरात्मा को ही लक्षित किया है।

आत्म शब्दाच्च ।। १५ ।।

सूत्रार्थ—आत्मशब्दात्=आत्म शब्द के प्रयोग से, च=भी ऐसा ही प्रतीत होता है।

व्याख्या—आनन्दमय को विज्ञानमय का अन्तरात्मा कहा है, परन्तु, उस आनन्दमय पुरुष का अन्तरात्मा अन्य कोई नहीं कहा, इससे सिद्ध होता है कि सब का अन्तरात्मा रूप आनन्दमय 'ब्रह्म' ही है।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।। १६ ।।

सूत्रार्थ—आत्मगृहीतिः='आत्म' से ब्रह्म का ग्रहण होना, इतरवत्=अन्य श्रुतियों के समान, उत्तरात्=बाद के वर्णन से भी प्रतिपादित होता है।

व्याख्या—"आत्मा वा इदमेकमेवाग्र" इत्यादि श्रुति में 'एक आत्मा ही था, उसने लोकों, को रचूं' यह इच्छा की। ऐसे वर्णन में 'आत्मा' में शब्द को ब्रह्म का ही पर्याय माना है। इसी प्रकार "सोऽकामयत बहुस्याम्" कह कर दूसरी श्रुति ने भी ब्रह्म के द्वारा बहुत होजाने की इच्छा का समर्थन किया है। इस प्रकार उस 'आत्मा' नामक ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति कही गई है। उससे भी सिद्ध होता है कि 'आत्मा' शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण हुआ है।

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ।। १७ ।।

सूत्रार्थ—चेत्=कहो कि, अन्वयात्='आत्म' शब्द के अन्वय होने से (ब्रह्म के लिए 'आत्म' शब्द कहा जाना नहीं बनता) तो, इति=इस प्रकार समझो कि, अवधारणात्=निश्चय होने से, स्यात्=वह ब्रह्म ही होता है।

व्याख्या—यदि कहो कि 'आत्मा' शब्द जीवात्मा का भी अन्वय हो सकता है, इसलिए आनन्दमय के साथ अन्वित आत्मा से ब्रह्म का ग्रहण नहीं हो सकता। तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि यह पहले ही निश्चत हो गया कि इस आत्मा से आकाश हुआ, इस प्रकार ब्रह्ममय बुद्धि हुई, फिर अन्नकोश से प्राणमय कोश में प्रथम बार ब्रह्ममय बुद्धि बनी। प्राणमय से मनोमय में और वहाँ से विज्ञानमय में बुद्धि हुई, विज्ञानमय से आनन्दमय में पहुँची। जब आनन्दमय से आगे कुछ है ही नहीं तो वह बुद्धि वहीं स्थिर होगई। इस प्रकार सिद्ध होता है कि आनन्दमय से यहाँ 'ब्रह्म' का ही उपदेश हुआ है।

कार्याख्यानादपूर्वम् ।। १८ ।।

सूत्रार्थ—कार्याख्यानात्=ब्रह्म का कार्य बताये जाने से यह, अपुर्वम्=पहिले कहा हुआ ब्रह्म नहीं हो सकता।

व्याख्या—अन्न-रसयुक्त जिस पुरुष का वर्णन इस प्रकरण में किया है, वह ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि वर्णन से जान पड़ता है कि यहाँ पुरुष नाम से मनुष्य का ही कथन है। परन्तु, यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि आनन्दमय शब्द ब्रह्म के लिए ही प्रयोग किया जा सकता है। कर्म-फल की प्राप्ति स्वरूप सुख, दुःख का भोग करने वाला मनुष्य आनन्दमय नहीं कहा जा सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि यहाँ 'आनन्दमय' शब्द ब्रह्म के हेतु में कहा गया है।

समान एवं चाभेदात् ।। १६ ।।

सूत्रार्थ—एवम्=इस प्रकार, च=भी, अभेदात्=भेद न होने के कारण, समान=समान कहा गया है।

व्याख्या—वाजसनेयि शाखा में, अग्नि-रहस्य विद्या, जिसे शाण्डिल्य विद्या भी कहा गया, में ब्रह्म के यह गुण कहे हैं—'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम" अर्थात् उन आत्मा की उपासना करे जो मनोमय, प्राण शरीर और प्रकाशरूप है,' फिर उसी शाखा के वृहदारण्यक में कहा है कि 'इस मनोमय, प्रकाशरूप, सत्यरूप, पुरुष के हृदय में चावल या जौ के छिलके से ढकी मींग के समान यह (ब्रह्म) है, जो सबका स्वामी, सबका अधिपति, इस सबका शासक है, जो कुछ भी है, वही है।' (वृह० ५।६।१)। शंका यह है कि वाजसनेयि शाखा वालों ने जिन विद्याओं को दो स्थान पर, दो प्रकार से वर्णन किया है, वे एक ही हैं ? इसका समाधान यह है कि विभिन्न शाखाओं में विद्या की समानता और गुणों का उपसंहार होने के समान, एक शाखा में भी वैसा होना सम्भव है। जहाँ 'उपास्य' में भिन्नता नहीं, वहाँ भेद मानने का भी कोई कारण नहीं है।

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—एवम्=इस प्रकार, सम्बंधात्=उपास्य-सम्बन्ध के द्वारा, अन्यत्र=अन्य स्थल पर, अपि=भी (यही मान्यता ठीक होगी ।)

व्याख्या—अन्य स्थलों पर भी उपास्य-उपासक का सम्बन्ध दिखाते हुए ब्रह्म विषयक विद्याओं का वर्णन हुआ है । बृहदारण्यक में अक्षि और आदित्य संबन्धी वर्णन आया है, दोनों को 'अहर' और 'अहम्' कहा है, इसमें पृथक्-पृथक् दो उपासनाएं बताकर उनका सम्बन्ध एक ही उपास्य से किया गया है तो इनमें भेद माना जाय या नहीं ? यह शंका होती है ।

न वा विशेषात् ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—न वा=इनकी एकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि, विशेषात्=इनके नाम आदि भिन्न हैं ।

व्याख्या—उपरोक्त सूत्र में जो शंका की गई है, उसका समाधान यह है कि इन दोनों उपासनाओं में स्थान और नाम दोनों में ही भेद है क्योंकि एक में सूर्य मण्डल और दूसरे में दक्षिण नेत्र स्थान कहा है । इस प्रकार नाम और स्थान भेद होने से पारस्परिक गुणों का उपसंहार नहीं हो सकता । इससे सिद्ध हुआ कि इन विद्याओं में उपास्य और उपासना की एकता नहीं है ।

दर्शयति च ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—च=और, दर्शयति=श्रुति में यही देखा जाता है ।

व्याख्या—विद्या एकता को मानकर गुणों का उपसंहार करने की जहाँ आवश्तकता होती है, वहाँ श्रुति स्वयं ही वैसा विधान कर देती है । "तस्यैतस्यतदेव रूपं" इत्यादि छान्दोग्य श्रुति ने अति देश किया है कि 'इस नेत्र में रहने वाले का जो गुण है, वही इस आदित्य-निवासी

पुरुष का है।' यदि एक के गुण दूसरे में कहे गए होते तो 'जो इसका रूप है, वही इसका रूप है' इस प्रकार स्पष्ट करने की श्रुति को आवश्यकता नहीं पड़ती।

सम्भृतिद्यु व्याप्त्यपि चातः ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—च=और, अतः=इस प्रकार विद्या की एकता न होने से, सम्भृतिद्युव्याप्ती=लोकों का भरण करना और व्याप्त होना, अपि=भी (पूर्वोक्त पुरुषों में नहीं हो सकते)।

व्याख्या—ब्रह्म जगत् कारण होने के साथ ही लोकों का पालन-कर्त्ता और जड़ चेतनात्मक सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है, यह गुण नेत्र में रहने वाले या सूर्यमण्डल में निवास करने वाले पुरुष के नहीं हो सकते। उपरोक्त विद्याओं की एकता का सिद्ध न होना और इन गुणों का उन पुरुषों में न हो सकना, यह दोनों कारण उपरोक्त पुरुषों में ब्रह्म के गुणों का उपसंहार न होना सिद्ध करते हैं।

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—पुरुषविद्यायाम्=पुरुष-विद्या में बताये गुणों के, इव=समान, च=भी, इतरेषाम्=अन्य पुरुषों के गुण नहीं हो सकते, क्योंकि, अनाम्नानात्=श्रुति ने वैसा वर्णन नहीं किया है।

व्याख्या—ब्रह्म का पुरुष नाम से जहाँ वर्णन किया है, वहाँ पुरुष के लक्षण भी अद्भुत ही कहे हैं। मुण्डकोपनिषद् में पुरुष नाम से जिस अक्षर ब्रह्म का वर्णन किया है, उससे सबको उत्पत्ति और उसी में सबका विलीन होना बताया है। फिर उसी को दिव्य और अमूर्त पुरुष कहा है और उसी से समस्त प्राण, इन्द्रिय, पञ्चभूत आदि सहित इस जगत् की उत्पत्ति कही है। उसी को सब कुछ, उसी को तप, उसी को कर्म और परम अमृतस्वरूप ब्रह्म प्रतिपादित किया है। इस प्रकार के गुण ब्रह्म के सिवा किसी अन्य पुरुष के नहीं हो सकते।

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—वेधादि=बींधने आदि का कार्य, अर्थ भेदात्=अर्थ के भेद से (ब्रह्म के हेतु कहा गया है)।

व्याख्या—इस सूत्र में ब्रह्म को 'प्रणव' रूपी बाण से बींधने योग्य कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् (२।२।३) में कहा है कि 'हे सोम्य ! उपनिषद् में कहे गए ओंकार रूप महान् धनुष पर उपासना से तेज किया हुआ बाण चढ़ावे और भावपूर्ण चित्त से उस बाण को खींचे (इस प्रकार) अविनाशी ब्रह्म को लक्ष्य बनाकर बींधना चाहिए।' इस प्रकार ओंकार के द्वारा ब्रह्म की उपासना का ही उपदेश किया है। यहाँ अर्थ भेद से कुछ अन्य कल्पना नहीं करनी चाहिए।

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—हानौ=जिस श्रुति में कर्म आदि के नष्ट होने का वर्णन है, उसमें, तु=तो, उपायनशब्दशेषत्वात्=वाक्य का शेष अंश रूप उपलब्धि का भी अध्याहार कर ले, क्योंकि कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्=इसे कुशा, छन्द, स्तुति, उपगान के समान मानना ठीक है, तत्उक्तम्=ऐसा पहिले कहा जा चुका है।

व्याख्या—श्रुतियों में मुमुक्ष पुरुष के शुभ अशुभ कर्म की हानि की बात कही गई है, उसके शुभ कर्म मित्र ले लेते हैं और अशुभ कर्म शत्रुओं को प्राप्त होते हैं जैसे शाटचायनी में है—"सुहृद:—साधुकृत्यां द्विषन्त: पापकृत्याम्" जब शुभ-अशुभ कर्म समाप्त होगए तो उसके पास क्या रहा ? इस पर यहाँ व्यवस्था दी गई है कि हानि के साथ उपायन शब्द शेष को अर्थात् वाक्य का शेष अंश रूप फल प्राप्ति को भी उसका अनुगत समझना चाहिए। इस प्रकार जहाँ-जहाँ कर्म की हानि का वर्णन है और फल के सम्बन्ध में निर्देष नहीं है, वहाँ-वहाँ कर्म की उप-

लब्धि रूप फल का भी विद्या की समानता से अध्याहार करले। इस संबंध में सूत्रकार ने चार उदाहरण दिए हैं—(१) कुशा—"कुशावान स्पत्य: स्थ ता मा पात" इसमें केवल वनस्पति की कुशा का ग्रहण कहा है, परन्तु,शाट्यायनी "औदुम्बरा: कुशा:" ये गूलर की कुशा लेकर पूर्ति करते हैं, (२) छन्द—"छन्दोभि: स्तुवीत" के अनुसार छन्द मात्र का कथन है, परन्तु अन्य स्थल पर "देवच्छदांसि" द्वारा देवपद की अनुवृत्ति की गई है, (३) स्तुति —"हिरण्येन षोडशिन: स्तोत्रमुपाकरोति" के अनुसार स्तुति का कोई विशेष समय नहीं माना है, परन्तु, अन्य स्थल में "समयाध्युषिते सूर्ये षोडशिन:" इत्यादि में समय विशेष जोड़कर अर्थ पूरा किया गया है, और (४) उपगान—एक शाखा वाले "ऋत्विज उपगायन्ति" ऋत्विज स्तोत्र गान करें' यह सामान्य रूप से कहते हैं, परन्तु, अन्य शाखा वाले "नाध्वर्युरुपगायति" से अध्वर्युओं को स्तोत्र गाने का निषेध करके वाक्य शेष रूप में पूर्ति करते हैं। इन उदाहरणों से सिद्ध हुआ कि कर्म नाश के साथ उपलब्धि रूप फल को शब्द शेष के रूप में ग्रहण करना उचित है।

साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ।। २७ ।।

सूत्रार्थ-साम्पराये=परलोक गमन में,तर्तव्याभावात्=भोग के द्वारा पार कराने वाला कोई कर्मफल शेष न रहने से, अन्ये=अन्य शाखा वाले (भी), तथाहि=ऐसा ही मानते हैं।

व्याख्या—मुमुक्षु ज्ञानी के सभी संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं, श्रुतियाँ ऐसा कहती हैं। मुण्डक शाखा वाले "तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजन: परमं साम्यमुपैति" कहते हुए स्पष्ट करते हैं कि 'उस समय वह विद्वान् पुण्य-पाप दोनों को छोड़कर विकार रहित हो. परम साम्य रूप ब्रह्म को प्राप्त होता है। इसी प्रकार बृहदारण्यक में "उभे उ हेवैष एते तरति" कहकर ज्ञानी का पुण्य-पाप दोनों को यहीं पार करना बताया है। इससे सिद्ध हुआ है कि परलोक में जाते समय भोग द्वारा पार कराने वाला कोई कर्मफल बाकी नहीं रहता।

छन्दत उभयथाविरोधात् ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ—छन्दत—मुमुक्षु के संकल्पानुसार, उभयथा=दोनों प्रकार की गति का (भी), अविरोधात्=श्रुति में विरोध नहीं है।

व्याख्या—साधक जिस प्रकार का संकल्प रखता है, वैसी ही गति उसे प्राप्त होती है। छान्दोग्य में कहा गया है कि 'यह पुरुष अवश्य ही संकल्पमय है, इस लोक में वह जैसे संकल्प से युक्त होता है, वैसे ही सङ्कल्प वाला परलोक में होता है। इससे सिद्ध होता है कि दोनों प्रकार की गति होना शास्त्र सम्मत है और इसका कहीं भी विरोध नहीं हुआ है।

गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ—गतेः=सद्गति की, अर्थवत्त्वम्=सार्थकता, उभयथा=दोनों प्रकार से माननी होगी, अन्यथा=इससे विपरीत होने पर, विरोधः=विरोध उपस्थित होगा।

व्याख्या—साधक की गति संकल्प के अनुसार मानने पर मुक्ति के दोनों प्रकार मान्य होते हैं। एक तो यह कि साधक ब्रह्म-दर्शन की इच्छा से साधन में लगा हो, तो वह कर्म का त्याग कर परलोक-गमन करेगा और ब्रह्म-दर्शन की कामना के अतिरिक्त केवल मुक्ति की कामना करे तो उसे मृत्यु के पश्चात् तत्काल मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी। यदि ऐसा न मानेंगे तो दोनों प्रकार से वर्णन करने वाली श्रुतियों में विरोध का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। इस प्रकार साधक के सङ्कल्पानुसार दोनों प्रकार से सद्गति होना सिद्ध होता है।

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—तल्लक्षणार्थोपलब्धेः=परलोक गमन के उपयुक्त सूक्ष्म शरीर आदि की उपलब्धि कहने से, उपपन्नः=दोनों प्रकार की गति संभव है, लोकवत्=लोक में ऐसा ही मिलता है।

व्याख्या—प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि 'जीव जिस सङ्कल्प वाला होता है, उस सङ्कल्प से मनुष्य प्राण में स्थित होता है, मुख्य प्राण उदान में स्थित हो मन-इन्द्रिय युक्त जीव को सङ्कल्पगत लोक में ले जाता है।' इस प्रकार देवयानमार्ग के द्वारा ब्रह्मलोक में जाने वाली गति का वर्णन हुआ। वृहदारण्यक में दूसरे प्रकार की गति का वर्णन इस प्रकार मिलता है कि 'जो कामना रहित, निष्काम, पूर्णकाम ब्रह्म की इच्छा करता है, उसके प्राण ऊपर के लोकों में गमन नहीं करते, वह (यहाँ) ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त होता है।' इससे सिद्ध हुआ कि साधक की दोनों प्रकार की गति होना श्रुतिसम्मत है। जिसे ब्रह्मलोक गमन करना है, उसके लिए उपयुक्त सूक्ष्म शरीर भी आवश्यक है। लोक में भी यही मिलता है कि यात्रा के समय आवश्यक साधन लेने ही पड़ते हैं। इस प्रकार सूत्रकार का कथन युक्तिसङ्गत मानना चाहिए।

अनियमः सर्वषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ—अनियमः=उन विद्याओं के द्वारा उपासना करने वालों को ही देवयानमार्ग से जाने का नियम नहीं है, किन्तु, सर्वेषाम्=ब्रह्मलोक को गमन करने वाले सभी साधक उसी मार्ग से गमन करते हैं, शब्दानुमानाभ्याम्=शब्द और अनुमान दोनों प्रकार से यह बात मान्य है, अविरोधः=इसमें कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—साधना करने वालों को विभिन्न सिद्धियों द्वारा ब्रह्म-लोक की प्राप्ति श्रुतियों ने बताई है, किन्तु, उन सभी में देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्म-लोक में पहुँचने की बात नहीं कही गई है। इसी प्रकार स्मृतियों में भी सब स्थलों पर उस मार्ग का वर्णन नहीं किया गया है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जहाँ देवयान मार्ग का वर्णन नहीं हुआ है, उस साधना द्वारा बिना देवयान मार्ग के, सीधे ही ब्रह्म-लोक में

पहुँचने का विधान है। परन्तु, ऐसा नहीं है। फल-प्राप्ति रूप ब्रह्म-लोक गमन के लिए सब प्रकार की साधनाओं में देवयान मार्ग के द्वारा ही पहुँचा जा सकता है। श्रुति और स्मृतियों दोनों में ही इसका विरोध न होने से यह मान्यता ठीक समझनी चाहिये।

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ—आधिकारिकाणाम्=मोक्ष के अधिकारियों का, यावदधि कारम्=जब तक अधिकार है, अवस्थितः=(तब तक) मोक्ष की स्थिति रहती है।

व्याख्या—मोक्ष के अधिकारियों का अधिकार कर्म-फल रूप भोग के साथ चलता है। जब तक वह उन अधिकारों का उपभोग नहीं कर लेते, तब तक वह फलरूप मुक्ति का उपभोग करते रहते हैं। परन्तु, कर्म-फल के शेष न रहने पर उनकी मोक्ष की स्थिति समाप्त हो जाती है और उन्हें मर्त्यलोक में लौटना पड़ता है। इसके विपरीत जिनके कर्म, फलरूप मुक्ति की प्राप्ति नहीं कराते, वे इस संसार में ही अमुक्त अवस्था में भोगों को भोगते रहते हैं।

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसद-वत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ—अक्षरधियाम्=ब्रह्म के अविनाशी लक्षणों का, तु=तो, अवरोधः=संग्रह कर लेना चाहिए, क्योंकि, सामान्य-तद्भावाभ्याम्=ब्रह्म के सब लक्षण समान होने से उसके रूप को बताने वाले हैं, इसलिए, औपसदवत्='उपसत्' कर्म कथन के समान, तदुक्तम्=यह कहा गया है।

व्याख्या—वृहदारण्यक (३।८।८) के अनुसार 'उस तत्व को अविनाशी ब्रह्म कहते हैं, वह मोटा, पतला, छोटा, बड़ा, लाल, चिकना नहीं है।' इस प्रकार जीव से ब्रह्म को विलक्षण कहा है। मुण्डकोपनिषद्

(१।१।५) में कहा है कि 'आगे परा है, जिससे वह अक्षर ब्रह्म जाना जाता है, जो न दीख सकता, न पकड़ा जा सकता, न गाँठ वाला, न रंग वाला है।' इससे भी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न हो सकने वाले ब्रह्म की विलक्षणता का प्रतिपादन हुआ है। इसके साथ ही उसे सर्वव्यापी, जगत्-कारण आदि कहा गया है। ब्रह्म के इन लक्षणों को ब्रह्म परक प्रकरण में सब जगह ग्रहण कर लेना उचित है। 'उपसत्' कर्म के समान उनका अध्याहार कर लेने की बात युक्तिसङ्गत है।

इयदामननात् ।। ३४ ।।

सूत्रार्थ—इयदामननात्=सब स्थलों पर ब्रह्म की इयत्ता का समान रूप से कथन होने के कारण विद्या की एकता समझनी चहिए।

व्याख्या—श्रुतियों में दो वचन से समाप्त होने वाले शब्दों को प्रयुक्त कर जीव और ब्रह्म को हृदय में स्थित कहा गया है। जैसे 'परस्पर मित्र भाव वाले दो पक्षी एक साथ रहते हुए, एक ही वृक्ष के आश्रय में रहते हैं, उनमें से एक कर्म-फल रूप का भोग करता और दूसरा भोग न कर, केवल देखता रहता है।' यह मुण्डक और श्वेताश्वतर श्रुति-वाक्य है। इसी प्रकार कठ श्रुति में भी 'हृदय गुहा में छिपे, छाया और धूप के समान भिन्न स्वभाव वाले' दोनों (जीव और ईश्वर) का वर्णन हुआ है। इससे इन तीनों स्थलों पर कही गई विद्या एक ही है क्योंकि इनमें ब्रह्म का एक-सा ही वर्णन हुआ है।

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ।। ३५ ।।

सूत्रार्थ—भूतग्रामवत्=भूत-समूह के समान, स्वात्मनः= साधक का जो अपनी आत्मा है, उसका भी, अन्तरा=अन्तर्यामी (वह ब्रह्म है) क्योंकि ऐसा ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—बृहदारण्यक में चाक्रायण-याज्ञवल्क्य सम्वाद में 'प्राण से प्राणन, ध्यान से व्यानन, उदान से उदानन करने वाला सर्वान्तर आत्मा कहा है।' आगे चलकर कहोल से याज्ञवल्क्यजी ने कहा है कि 'शोक, मोह, भूख, प्यास को जिसने मार लिया, वही साक्षात् सर्वान्तर ब्रह्म है।' श्वेताश्वतर में भी 'सब जीवों में छिपा हुआ, एक देव, सर्वव्यापी सब प्राणियों का अन्तरात्मा, सबके कर्मों का अधिष्ठान करने वाला, सबका आश्रय, सबका साक्षी, सर्वथा विशुद्ध और निर्गुण कहा है। इस प्रकार सबका अन्तरात्मा ब्रह्म का होना ही सिद्ध होता है।

अन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, अन्यथा=अन्य प्रकार से, अभेदानुपपत्तिः=अभेद होना सिद्ध नहीं होगा तो, इति न=ऐसा नहीं है, उपदेशान्तरवत्=उपदेश के अन्तर के समान ही यह मान्यता ठीक रहेगी।

व्याख्या—यदि कहो कि उपरोक्त वर्णन में जीव और ब्रह्म के भेद को यथार्थ मान लें तो अभेद होना सिद्ध नहीं होगा। परन्तु, ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य स्थान पर अभेद कहने से, यहाँ भी अभेद सिद्ध होता है। छान्दोग्य में सद्विद्या के प्रकरण में श्वेतकेतु ने कई बार प्रश्न किया और कई बार उत्तर दिया गया है, उसी के समान प्रथक सर्वान्तर और सब प्राणियों को प्राणन करना और द्वितीय अशनादि से अतीतपने की बात से सिद्ध होता है कि दोनों में अभेद का ही वर्णन हुआ है।

व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ—व्यतिहारः=एक के साथ दूसरे को समझना, हि=ही, इतरवत्=अन्य श्रुति के समान, विशिंषन्ति=सभी श्रुतियाँ वर्णन करती हैं।

व्याख्या—एक दूसरे के धर्मों का परस्पर आरोप करना व्यतिहार कहा जाता है, जैसे—"तद्योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्" अर्थात् जो मैं हूँ, सो वह है, जो वह है, सो मैं हूँ' अथवा "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहंवै त्वमसि" अर्थात् हे भगवन् ! तू मै हुँ और मैं तू है' इस प्रकार की अदला-बदली की बात वहाँ कही जाती है, जहाँ अन्य वस्तु के समान यथार्थ रूप से भिन्नता हो और प्रकारान्तर से अभिन्नता बतानी हो। इनसे यही समझना चाहिए कि जीव और ब्रह्म की अभिन्नता न मानने के लिए इस प्रकार कहा गया है। यदि उपाधिकृत भेद कहा गया होता तो इस प्रकार का वर्णन नहीं हुआ होता।

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थ—सा एव=इसी प्रकार मान्यता है, क्योंकि, सत्यादयः=सत्यसङ्कल्प आदि लक्षण, हि=ब्रह्म के ही हैं।

व्याख्या—उपरोक्त सूत्र में जो मान्यता है, उसी का अनुमोदन इस सूत्र में किया गया है। ब्रह्म के जो लक्षण सत्य सङ्कल्प, सत्यकाम, सर्वज्ञ, अविनाशी आदि कहे गए हैं, वे ब्रह्म के सिवा जीवात्मा आदि किसी में नहीं हो सकते। जब जीवात्मा में लक्षणों की भिन्नता सिद्ध होती है, तब उसका ब्रह्म से अत्यन्त अभेद किसी प्रकार सिद्ध नहीं होगा।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥

सूत्रार्थ—इतरत्र=अन्यत्र (कहे गये), कामादि=सत्यकाम आदि लक्षण, तत्र च=निर्विशेष रूपत्व के प्रतिपादन में भी हुआ है, क्योंकि, आयतनादिभ्यः=वहां उसे सबका आश्रय रूप कहा गया है।

व्याख्या—जिन श्रुतियों ने निर्विशेष स्वरूप का प्रतिपादन किया है, उनमें भी ब्रह्म के सत्यकाम, सर्वज्ञ आदि के लक्षणों का होना सिद्ध होता है, क्योंकि उन श्रुतियों ने उसे सबका आधार होना कहा है।

जैसे 'न स्थूल है, न सूक्ष्म है' यह कहकर ब्रह्म का निर्विशेष रूप कहा और फिर 'इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथिवी आदि का धारण होना' बताया है। इससे ब्रह्म दोनों लक्षणों से युक्त सिद्ध होता है। एक लक्षण का दूसरे में अध्याहार कर लेने से सङ्गति ठीक बैठती है।

आदरादलोपः ॥ ४० ॥

सूत्रार्थ—आदरात्=उक्त कथन ब्रह्म के प्रति आदरपूर्वक होने से, अलोपः=द्रष्टा का लोप नहीं हुआ है।

व्याख्या—ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने की दृष्टि से आदर सहित वर्णन करने में द्रष्टा का निषेध हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। यहाँ इस बात का प्रतिपादन हुआ है कि सर्वश्रेष्ठ द्रष्टा ब्रह्म के सामने अन्य सब जीवात्मा द्रष्टा होते हुए भी न होने के समान हैं क्योंकि ब्रह्मापर्ण द्रष्टा है और जीव अपूर्ण। सृष्टि के विलय-काल में जीवों के सभी धर्मों का लय हो जाता है और स्थिति के समय भी उनके सब धर्म और कार्य ब्रह्म के सकाश से होने के कारण सीमित ही समझने चाहिये। इस प्रकार यहाँ द्रष्टा का लोप नहीं, किन्तु ब्रह्म का श्रेष्ठत्व प्रतिपादित हुआ है।

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ—उपस्थिते=उक्त प्रकार अन्य चेतन का निषेध उपस्थित होने पर भी, अतः=इस ब्रह्म का कथन आदर सूचक है, क्योंकि, तद्वचनात्=उन वाक्यों से नहीं सिद्ध होता है।

व्याख्या—जिस श्रुति में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य द्रष्टा का निषेध कहा गया है, उसमें बारम्बार 'अतः' शब्द आया है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ द्रष्टा कहा है। यदि द्रष्टा का सर्वथा निषेध कहा गया होता तो 'अतः' शब्द की आवश्यकता नहीं होती। इससे सिद्ध होता

है कि श्रुति में दृष्टा का लोप नहीं, ब्रह्म का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया गया है।

तन्निर्धारणानियमस्तग्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थ—तन्निर्धारणानियमः=उन भोगों के भोग का कोई नियम निर्धारित नहीं है, क्योंकि तद्दृष्टेः—यह बात देखी गई है, हि=तथा, पृथक्=विषयों से पृथक् रहने पर, अप्रतिबन्धः—सांसारिक बन्धनों से मुक्त होना ही, फलम्=फल कहा है।

व्याख्या—जिन्हें ब्रह्म लोक प्राप्ति का अधिकारी माना गया है, उनका ब्रह्म लोक में पहुँचना तो ठीक है, परन्तु, उस लोक के दिव्य भोगों का उपभोग करना, न करना उनके कर्म के फल पर ही आधारित है क्योंकि, ब्रह्मलोक प्राप्ति के सभी वर्णनों में, वहाँ के दिव्य भोगों के उपभोग करने का निर्देश नहीं किया गया है। अथवा जो साधक भोगों की उपेक्षा कर केवल ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा करते हैं, उन्हें वैसी ही प्राप्ति होती है। इसलिए जन्म-मरण रूप बन्धन से छुटकारा पाने पर भी दिव्य भोगों के भोग का निर्धारित नियम प्रतीत नहीं होता।

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थ—तदुक्तम्=उस प्रकार कहना, प्रदानवत्=वरदान के समान, एव=ही है।

व्याख्या—भोग का निश्चित नियम न होने की बात कहकर भोगों की अपेक्षा का उपदेश देना साधक के लिए वरदान के समान ही समझना चाहिये क्योंकि दिव्य भोगों की कामना, ब्रह्म से साक्षात्कार होने देने में विघ्न स्वरूप है, जहाँ ब्रह्म-प्राप्ति का उद्देश्य हो, वहाँ भोगों को तुच्छ मानने का उपदेश यथार्थ में वरदान स्वरूप सिद्ध होगा।

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ।। ४४ ।।

सूत्रार्थ—लिंगभूयस्त्वात्=जन्म-मरण लक्षण वाले जगत् से मोक्ष रूप फल वाले लक्षणों की अधिकता से, तद् बलीयः=वह फल बलशाली है, हि=क्योंकि, तदपि=अन्य फलों का वह कथन भी प्रमुख फल का महत्त्व प्रदर्शित करता है।

व्याख्या—ब्रह्मज्ञान के फल का जहां-जहां वर्णन मिलता है, वहाँ मोक्ष द्वारा ब्रह्म प्राप्ति रूप का ही प्रतिपादन प्रायः किया गया है, इसलिए उसी फल को बलवान् समझना चाहिए। ब्रह्म प्राप्ति से भिन्न अर्थात् दिव्य भोगों की प्राप्ति रूप फल का जहाँ कहीं वर्णन हुआ है, वह ब्रह्म-प्राप्ति प्रमुख फल का महत्व प्रदर्शित करने वाला ही है, क्योंकि वैसे फलों का रूप वर्णन सभी स्थलों पर नहीं हुआ है।

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात् क्रियामानसवत् ।। ४५ ।।

सूत्रार्थ—क्रियामानसवत्=देह और मन की क्रियाओं में निहित विकल्प के समान, पूर्वविकल्पः=पहिले वर्णन की गई विद्या भी विकल्प द्वारा मोक्ष का साधन, स्यात्=हो सकती है, प्रकरणात्=प्रकरण से यहां समझना चाहिए।

व्याख्या—उपासना सम्बन्धी शारीरिक क्रियाओं के समान मानसिक क्रियाओं से भी फल की प्राप्ति होती है। जो फल यज्ञ आदि कर्मों से मिलता है, वैसा ही फल जप और भजन से भी मिलना सम्भव है। गीता में भजन का महत्व बताते हुए निष्काम कर्म का उपदेश दिया है। भगवान् में मन लगाना ही भजन कहा गया है। भजन में ही भक्ति शब्द निहित है। भगवान् ने स्वयं भक्त उपासक की महत्ता बताते हुए 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्' इत्यादि (गीता १२।५) में 'निराकार ब्रह्म में चित्त लगाने वाले साधन में क्लेश' अर्थात् अधिक परिश्रम बताकर उस गति की प्राप्ति दुःसाध्य कही है। इसके बाद

'तेषामहं समुद्धर्ता' इत्यादि (गीता १२।७) वाक्य से भजन करने वाले भक्तों का मृत्यु रूप संसार-समुद्र से शीघ्र ही उद्धार होना बताया है। इससे शारीरिक क्रिया और मानसिक क्रिया दोनों से मोक्ष होना सिद्ध हुआ। इसी प्रकार अग्नि-विद्या से भी मोक्ष होने की बात कठ श्रुति में यमराज बतलाते हैं कि 'इस अग्निहोत्र के तीन अनुष्ठानों से जन्म मरण से पार होकर मनुष्य अत्यन्त शान्ति प्राप्त करता है।'

अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

सूत्रार्थ—च=और, अतिदेशात्=तीनों कर्मों को मोक्ष-कारण कहने वाले अतिदेश से भी यह मान्यता ठीक है।

व्याख्या—तीनों प्रकार के कर्मों को करने वाले को जन्म-मरण से पार होने का उपदेश है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि यज्ञ, तप और भजन इन तीनों से मोक्ष प्राप्ति सम्भव है।

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

सूत्रार्थ—निर्धारणात=निश्चित होने से, तु=तो, विद्या=ब्रह्म विद्या, एव=ही मोक्ष कारण समझनी चाहिए।

व्याख्या—परन्तु श्रुतियों में ब्रह्म प्राप्ति का साधन और मोक्ष प्रदायिनी ब्रह्म विद्या को ही कहा है। इसलिए अन्य विद्याओं या कर्मों से वैसा फल प्राप्त होने पर भी, ब्रह्म विद्या ही प्रमुख है। अन्य विद्याओं के सम्बन्ध में निश्चित रूप से ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली नहीं कहा है।

दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

सूत्रार्थ—दर्शनात=ऐसा वर्णन देखा जाने से, च=भी।

व्याख्या—श्रुतियों में कर्मों का फल ब्रह्म-लोक में जाकर लौटना कहा है, परन्तु, परम मोक्ष नहीं बताया। ब्रह्मज्ञानी के लिए ही श्रुतियाँ

परम मोक्ष का विधान करती हैं। इससे भी ब्रह्म विद्या का सर्वश्रेष्ठ होना ही सिद्ध होता है।

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ।। ४९ ।।

सूत्रार्थ—श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्=श्रुति इत्यादि के प्रमाणों के पुष्ट होने से, च=भी, बाधः=इसकी मान्यता में बाधा, न=नहीं है।

व्याख्या—किसी प्रसङ्ग के निर्णय में, उससे सम्बन्धित श्रुति-वाक्य और लक्षण आदि प्रमाणों को अधिक मान्यता दी जाती है। ब्रह्म-ज्ञान के सर्वश्रेष्ठ होने के सम्बन्ध में श्रुति प्रमाणों और लक्षणों की अधिकता है, इसलिए उसे ठीक मानने में कोई बाधा नहीं है।

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम् ।। ५० ।।

सूत्रार्थ—अनुबंधादिभ्यः=अनुबन्ध आदि के भेद से, प्रज्ञा-न्तरपृथक्त्ववत्—उद्देश्य-भेद से होने वाली अन्य उपासनाओं की भिन्नता के समान, च=भी, (यह भिन्न है), दृष्टः=ऐसा उन प्रकरणों में देखा गया और, तदुक्तम्=यह पहिले भी कह चुके हैं।

व्याख्या—विभिन्न प्रकार की उपासनाओं से विभिन्न फलों की प्राप्ति होती है। वह-वह उपासना अपने-अपने साध्य और साधन के अनुरूप ही फलवती होती है। उसी प्रकार एक ही ब्रह्म विद्या में साधक की भिन्न-भिन्न भावनाओं के अनुसार, प्रकार और फल में विभिन्नता होना सम्भव है। इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि यदि ब्रह्म विद्या के फल में ब्रह्मलोक के दिव्य भोगों का संकल्प हो तो उसमें ब्रह्म प्राप्ति कैसे सम्भव है? उस साधक को तो ब्रह्म-लोक के दिव्य भोग ही फल रूप

में मिलेंगे। जो साधक भोगों को तुच्छ समझ कर ब्रह्म को ही प्राप्तव्य मानते हैं, वही उसका दर्शन करने के अधिकारी हैं।

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥५१॥

सूत्रार्थ—सामान्यात्=ब्रह्म विद्याओं की समान फल प्राप्ति, अपि=भी, न=किंचित् फलभेद का निषेध नहीं करती, हि=क्योंकि, उपलब्धेः=ब्रह्म-प्राप्ति होने पर, मृत्युवत्=मरने पर देह से सम्बन्ध न रहने के समान, लोकापत्तिः=किसी लोक से सम्बन्ध, न=नहीं रह सकता।

व्याख्या—सब ब्रह्म-विद्या मोक्ष प्रदान करती हैं। इस मोक्ष रूप फल में तो सभी की समानता है, परन्तु, उनमें से किसी के द्वारा ब्रह्म-लोक में जाना, किसी के द्वारा ब्रह्म-दर्शन करना, किसी के द्वारा दिव्य भोग भोगना, किसी के द्वारा ब्रह्मलोक न जाकर इसी लोक में मुक्त हो जाना इत्यादि किंचित् फल भेद हैं। इन भेदों में भी, जिसके द्वारा ब्रह्म प्राप्ति कही गई है, उस साधना वाला साधक भोगों से निर्लिप्त रह कर और भगवान् प्राप्ति के सिवा अन्य किसी कामना को न करता हुआ, ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है तो उसे परम मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह फिर किसी लोक को जाने के लिये लौटता नहीं।

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥५२॥

सूत्रार्थ—परेण=अगले मन्त्रों से, च=भी प्रतीत होता है, कि, शब्दस्य=उनके शब्दों का, ताद्विध्यम्=वैसा ही भाव है, तु=किन्तु, भूयस्त्वात्=अन्य भावों की अधिकता से, अनुबन्धः=देह-सम्बन्ध रहा आता है॥

व्याख्या—ब्रह्म की ही कामना वाले साधकों का दैहिक संबन्ध छूटता है, इस सम्बन्ध में "तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुष-

मुपैति दिव्यम्" अर्थात् "वह ब्रह्मज्ञानी नाम रूप को यहीं छोड़कर परात्पर पुरुष को प्राप्त होता है' यह श्रुति है। इस प्रकार नाम रूप से मुक्ति हुई तो दैहिक बन्धन भी समाप्त हो गए। परन्तु, जिस उपासना में ब्रह्म-प्राप्ति के साथ अन्य उपलब्धियों की कामना रहती है, वहाँ दैहिक बन्धन नहीं छूट पाते और ब्रह्मलोक की प्राप्ति के पश्चात् भी, अन्य भावों की अधिकता के कारण उन्हें पुनर्जन्म ग्रहण करना होता है।

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥

सूत्रार्थ—एके=एक आचार्य, आत्मनः=आत्मा का, शरीरे=शरीर से सम्बन्ध, भावात्=होना मानते हैं।

व्याख्या—नास्तिक मत वाले आचार्य शरीर के साथ ही आत्मा का संबन्ध मानते हैं। उनका विचार है कि जब शरीर है, तभी तक इसमें चेतन रूप आत्मा मालूम होती है, शरीर के समाप्त होने पर आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं रहता।

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥

सूत्रार्थ व्यतिरेक:=शरीर और आत्मा एक नहीं हैं, तद्भावाभावित्वात्=शरीर के रहते हुए भी आत्मा का अभाव हो जाने से, न=एक नहीं हैं, तु=किन्तु, उपलब्धिवत्=ज्ञान की प्राप्ति के समान, यह सिद्ध है।

व्याख्या—शरीर और आत्मा को एक बताना असत्य है, क्योंकि मरने पर शरीर तो रहता है, परन्तु, उसमें आत्मा नहीं रहता। इस प्रमाण से भी शरीर और आत्मा का एक होना मान्य नही है। जैसे ज्ञान की प्राप्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, वैसे ही शरीर और आत्मा का एक न होना प्रत्यक्ष देखा जाता है। यदि यह शङ्का करें कि शरीर के साथ आत्मा भी नहीं रहता, तो यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि

शरीर को त्याग कर भी आत्मा अपने सूक्ष्म शरीर से रहता है। इससे सिद्ध है कि आत्मा और शरीर एक नहीं हैं।

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥

सूत्रार्थ—अङ्गावबद्धाः=उद्गीथ आदि अङ्गों से संबन्धित उपासनाएँ, शाखासु=उन-उन शाखाओं में, हि=ही, न=करने योग्य नहीं हैं, तु=किन्तु, प्रतिवेदम्=प्रत्येक शाखा वाले उनका अनुष्ठान कर सकते हैं।

व्याख्या—उद्गीथ से सम्बन्धित उपासना का जिन शाखा वालों ने वर्णन किया है, वही उसकी उपासना कर सकते हों, ऐसी बात नहीं है, किंतु सभी वेदों की शाखा वाले उसका अनुष्ठान कर सकते हैं, इससे यह बात सिद्ध हुई।

मन्त्रादिवद्वाविरोधः ॥ ५६ ॥

सूत्रार्थ—वा=या, मन्त्रादिवत्=मन्त्र आदि के समान, अविरोधः=इसमें भी कुछ विरोध नहीं है।

व्याख्या—जिस प्रकार एक शाखा के मंत्र और यज्ञोपयोगी साधनों का अन्य सब शाखा वाले आवश्यकतानुसार उपयोग कर लेते हैं, वैसे ही उद्गीथ आदि अङ्गोपासनाओं का सभी शाखा वाले अनुष्ठान कर सकते हैं, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥ ५७ ॥

सूत्रार्थ—क्रतुवत्=यज्ञ के समान, भूम्नः=पूर्ण उपासना की, ज्यायस्त्वम्=प्रामाणिकता है, हि=क्योंकि, तथा=वैसा ही, दर्शयति=श्रुति दिखाती है।

व्याख्या—जैसे यज्ञ का अनुष्ठान सर्वाङ्ग पूर्ण किया जाना ही श्रेष्ठ माना जाता है, वैसे ही उपासना वा अनुष्ठान भी सर्वाङ्गपूर्ण होना चाहिए। वैश्वानर विद्या में सबने अपनी-अपनी उपासना की बात बताई

ओर राजा अश्वपति ने सबसे कह दिया कि तुम एक-एक अङ्ग की उपासना करते हो। फिर उन्होंने उनकी एकाङ्गी उपासना की हानि बता कर सर्वाङ्गी उपासना की उपयोगिता प्रतिपादित की। इससे सिद्ध होता है कि सर्वाङ्गपूर्ण उपासना ही श्रेष्ठ और फलदायिनी है।

नानाशब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥

सूत्रार्थ—नाना=विभिन्न विद्याएँ, शब्दादिभेदात्=शब्द आदि के भेद से पृथक्-पृथक् हैं।

व्याख्या—श्रुतियों में अनेक विद्याओं का वर्णन मिलता है। सद्, भूमा, दहर, शांडिल्य, वैश्वानर आदि। इन सब में नाम, प्रकार, साधन आदि का भेद होने से, सब का फल ब्रह्म प्राप्ति रूप एक होने पर भी, यह सब पृथक्-पृथक् हैं। जिस साधक को जो विद्या उपयुक्त प्रतीत होती है, वह उसी की सिद्धि में लग जाता है, विद्या-भेद के अनुसार उपलब्धि में भी अन्तर होना स्वाभाविक है।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥

सूत्रार्थ—अविशिष्ट फलत्वात=सभी विद्याओं का फल एक ब्रह्म की ही प्राप्ति है, इसलिए, विकल्पः=(जो जिस उपासना को कर रहा है, उसी को करे, क्योंकि वे) विकल्प रूप से एक ही मानी गई हैं।

व्याख्या—जो साधक जिस विद्या के अनुसार उपासना कर रहा है, उसे अपनी उपासना में परिवर्तन नहीं करना चाहिए, क्योंकि सभी विद्याओं का परम लक्ष्य ब्रह्म ही है। इसलिए सिद्ध हुआ कि समुच्चय की आवश्यकता नहीं है।

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६० ॥

सूत्रार्थ—काम्याः=सकाम उपासना, तु=तो, यथा-

कामम्=जैसी कामना हो उसके अनुसार, समुच्चीयेरन्=समुच्चय करके करनी चाहिए, वा=अथवा, न=समुच्चय न करें तो पृथक्-पृथक् करें, क्योंकि, पूर्वहेत्वभावात्=इनमें परिमित फल का अभाव है।

व्याख्या—सकाम उपासनाओं में सब का भिन्न-भिन्न फल कहा गया है, इसलिए एक उपासना से सभी कामनाओं की सिद्धि नहीं हो सकती। इसमें तो जैसी कामना हो उसी के अनुरूप उपासना करे, अथवा अधिक भोगों की कामना हो तो उन-उन भोगों वाली उपासनाओं का समुच्चय करके करे। अधिक भोगों की कामना वाला उपासक उन-उन उपासनाओं को पृथक्-पृथक् करे तो भी ठीक है। यह सब उसकी इच्छा और सामर्थ्य पर निर्भर करता है।

अंगेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥

सूत्रार्थ—अंगेषु=उद्गीथ आदि यज्ञाङ्गों में, यथाश्रय-भावः=आश्रय के अनुसार भाव समझना चाहिए।

व्याख्या—उद्गीथ आदि यज्ञ के अङ्गों में जो ओंकार आदि की उपासना कही गई है, उनमें जो उपासना जिस अङ्ग के आश्रित है, उसी अङ्ग के अनुसार उसकी व्यवस्था करे। इस प्रकार जिन कर्मों के अङ्गों का समुच्चय सम्भव है, उन-उन अङ्गों से सम्बन्धित उपासनाओं का उन-उन कर्मों से समुच्चय किया जा सकता है।

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

सूत्रार्थ=शिष्टेः=श्रुति के विधान से, च=भी यही मानना चाहिए।

व्याख्या—उद्गीथ आदि स्तोत्रों के समुच्चय का श्रुति में विधान होने से उनकी आश्रित उपासनाओं का समुच्चय भी स्वयं ही सिद्ध हो जाता है।

समाहारात् ॥ ६३ ॥

सूत्रार्थ—समाहारात् = समाहार से भी यह हो सकता है।

व्याख्या—श्रुतियों ने कर्मों के समाहार का निर्देश किया है, इससे उनकी आश्रित उपासनाओं का समाहार करने से भी समुच्चय होना सिद्ध होता है।

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥

सूत्रार्थ—च = और, गुणसाधरण्यश्रुतेः = उपासना के गुण और उसके आश्रय ओंकार को समान सुना जाने से भी यह सिद्ध है।

व्याख्या—उपासना के गुण ओंकार को तीनों वेदों में समान भाव से कहा है। ओंकार से ही त्रयीविद्या की प्रवृत्ति कही गई है। कर्माङ्ग से सम्बन्धित उद्गीथ आदि गुण का भी समान भाव से प्रयोग कहा गया है। इससे कर्माङ्गों के साथ उपासनाओं का समुच्चय अनुचित नहीं माना जा सकता।

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥

सूत्रार्थ—न वा = ऐसा नहीं है, क्योंकि, तत्सहभावाश्रुतेः = उन-उन उपासनाओं का समुच्चय कोई श्रुति नहीं बताती।

व्याख्या—जिन उपासनाओं के जो आश्रयभूत अंग हैं, उनके समाहार के समान, उनकी सह-उपासनाओं का समाहार बताने वाली कोई श्रुति उपलब्ध नहीं होती। इसलिए आश्रयों के समुच्चय के समान उपासनाओं का समुच्चय होना सिद्ध नहीं होता। इससे पृथक्-पृथक् अनुष्ठान करना ही उचित प्रतीत होता है।

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

सूत्रार्थ—च = और, दर्शनात् = श्रुति इस अनियम को दिखाती है, इससे भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या— छान्दोग्य में कहा गया है कि 'इस प्रकार जानने वाला ब्रह्मा यज्ञ सहित यजमान और ऋत्विजों की रक्षा करता है' इससे उपासनाओं का कर्म से साथ समुच्चय होना सिद्ध नहीं होता। यदि ऐसा होता तो ऋत्विज् भी उस तत्व को जानने वाले होते और उनकी रक्षा ब्रह्मा को न करनी पड़ती।

॥ तृतीयः पादः सम्पूर्णम् ॥

चतुर्थः पादः

पुरुषार्थोऽतश्शब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ-बादरायणः=बादरायण आचार्य, इति=यह कहते हैं कि, अतः=इस ब्रह्म विद्या से ही, पुरुषार्थः=मोक्ष रूप पुरुषार्थ की प्राप्ति संभव है, शब्दात=यही श्रुति वाक्यों से सिद्ध होता है।

व्याख्या—बादरायण आचार्य ब्रह्म विद्या की सिद्धि से ही मोक्ष रूप पुरुषार्थ की सिद्धि मानते हैं। यही बात श्रुति सम्मत है। श्वेताश्वतर (५।१२) में "ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्व पाशैः" अर्थात् 'ब्रह्म को जान कर ही सब बन्धनों से छूट जाना' कहा है।

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—शेषत्वात्=कर्म का शेष होने से, पुरुषार्थवादः=ब्रह्म विद्या से पुरुषार्थ की सिद्धि बताना, (अर्थ की सिद्धि मात्र ही है), यथा=जैसे, अन्येषु=यज्ञ के उपांगो में फल श्रुति है, इति=ऐसा, जैमिनिः=आचार्य जैमिनि कहते हैं।

व्याख्या—आचार्य जैमिनि कर्म का कर्त्ता आत्मा होने से उसका

स्वरूप ज्ञान कराने वाली विद्या को भी कर्म का ही अङ्ग मानते हैं। जैसे यज्ञ के अङ्गों में फल कहने को उनकी प्रशंसा का भाव ही समझा जाता है, वैसे ही उसे पुरुषार्थ की सिद्धि का साधन कहना प्रशंसा मात्र ही है। पुरुषार्थ सिद्धि तो कर्म से हो सकती है, विद्या के ज्ञान मात्र से नहीं हो सकती।

आचार दर्शनात् ।। ३ ।।

सूत्रार्थ—आचार दर्शनात्=कर्मवानों को कर्म करते हुए देखने से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—केवल विद्या से ही पुरुषार्थ सिद्धि न होने के पक्ष में कर्मवानों का कर्म करना भी प्रमाण है। छान्दोग्य में राजा अश्वपति ने कहा है कि 'मेरे राज्य में चोर, कंजूस, मदकी, यज्ञ-विमुख, विद्याहीन नहीं हैं, परस्त्रीगामी पुरुष नहीं तो कुलटा होगी ही कैसी ?' फिर उन्होंने यज्ञ करने और ऋत्विजों को धन देने की बात भी कही है। इस प्रकार कर्म करने से भी ब्रह्मज्ञान की फल सिद्धि हो सकती है।

तच्छ्रुतेः ।। ४ ।।

सूत्रार्थ—तच्छ्रुतेः=उस कथन वाली श्रुति से भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—छान्दोग्य (१।१।१०) "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति" अर्थात् 'जो कर्म विद्या, श्रद्धा और उपनिषद् पूर्वक किया जाता है, वह अत्यन्त बलवान् होता है' के अनुसार विद्या को कर्म का ही एक अङ्ग कह दिया है और इससे कर्म का ही महत्व सिद्ध होता है।

समन्वारम्भणात् ।। ५ ।।

सूत्रार्थ—समन्वारम्भणात्=विद्या और कर्म दोनों का जीव के साथ चलना वर्णन होने से भी यह प्रमाणित होता है।

व्याख्या—बृहदारण्यक (४।४।२) "तं विद्या कर्मणी समन्वारभेते" के अनुसार मरने वाले जीव के पीछे विद्या और कर्म भी साथ चलते हैं, इससे विद्या का कर्माङ्ग होना ही सिद्ध होता है।

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—तद्वतः=ज्ञानी के लिए, विधानात्=कर्म का विधान होने से भी यह मान्यता ठीक है।

व्याख्या—कर्म का विधान ज्ञानवान् के लिए ही किया गया है। ज्ञान न होने से कार्य का भले प्रकार न होना सम्भव है। छान्दोग्य (८।१५।१) के अनुसार गुरु सेवा से समय बचने पर विधिवत् वेद पढ़, गुरुकुल से लौटे और नित्य कर्म स्वाध्याय आदि करता हुआ, पुत्रादि को धार्मिक कार्यों में प्रवृत्त कर विषयों से निवृत्त हो—इस प्रकार आचरण करने वाले को ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही गई है। इससे विद्या कर्म का ही अङ्ग सिद्ध होती है।

नियमाच्च ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—नियमात्=जीवन पर्यन्त कर्म करने का नियम होने से, च=भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—श्रुति ने कर्म करते हुए ही मनुष्य को सौ वर्ष तक जीवित रहने का उपदेश दिया है। ईशावास्योपनिषद् के 'कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेत् शतं समाः' का यही अर्थ है। इससे कर्म के बिना जीवन ही निरर्थक बना दिया। विद्या तो होनी ही चाहिए, परन्तु कर्म के बिना विद्या की सार्थकता भी नहीं बनती।

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—अधिकोपदेशात्=ब्रह्म विद्या में कर्मों की अपेक्षा ज्ञान का अधिक उपदेश होने के कारण, बादरायणस्य=आचार्य

बादरायण का मत, एवम् = इसी प्रकार है, तु = किंतु, तद्दर्शनात् = श्रुति में ऐसा ही देखा जाता है।

व्याख्या—आचार्य जैमिनी द्वारा अपने मत की सिद्धि के लिए जो युक्तियाँ प्रस्तुत की गईं, उन्हें आचार्य बादरायण आभास मात्र मानते हैं और विद्या को कर्म का अंग न मान कर वे विद्या को ही प्रमुखता देते हैं। यदि ब्रह्मज्ञान के साथ ज्ञानी कर्म भी करे तो उससे कोई हानि नहीं होगी और वे कर्म विद्या का महत्व स्थिर रखने में सहायक हो सकते हैं। किन्तु, श्रुतियाँ तो कर्म की अपेक्षा ज्ञान को ही अधिक महत्व देती हैं। मुण्डक श्रुति के अनुसार "कार्य-कारण रूप ब्रह्म को जान लेने पर मनुष्य हृदय की चिज्जड़-ग्रन्थि बिंध जाती है, सब संशय और कर्म नष्ट हो जाते हैं।" इस प्रकार कर्म की निरर्थकता सिद्ध होती है। श्रुतियों ने कर्म को विद्या का साधन बताया है, विद्या उसका फल होने से विद्या की श्रेष्ठता प्रतिपादित होती है, क्योंकि साधन का महत्व फल की अपेक्षा न्यून होता है।

तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—तु=और, तुल्यम्=समान रूप से, दर्शनम्= यही देखा जाता है।

व्याख्या—सभी श्रुतियों ने समान रूप से कर्म की अपेक्षा विद्या का ही श्रेष्ठ होना कहा है। एक स्थल पर विद्या से सम्पन्न हुए कारयेया ऋषियों ने कहा है कि 'हम अब अधिक अध्ययन, अधिक यज्ञ क्यों करेंगे? पहिले यज्ञादि कर चुके हैं, अब तो आत्मज्ञान के द्वारा सन्तति-ऐश्वर्य कामना को छोड़ भिक्षुचर्य्या करेंगे।' इससे कर्म का त्याग सिद्ध होता है। मुण्डकोपनिषद् (१।२।१०) के अनुसार 'इष्ट-पूर्त कर्मों को श्रेष्ठ समझने वाले मूर्ख उससे विपरीत वास्तविक श्रेय को नहीं जानते, वे शुभ कर्मों के फल से स्वर्ग के पीठ स्थान में वहाँ के भोगों का अनुभव

कर, पृथिवी या इससे भी नीचे के लोक में जा गिरते हैं।' इससे भी कर्म की निरर्थकता ही सिद्ध होती है।

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—असार्वत्रिकी=वह श्रुति उद्गीथ विद्या से ही सम्बन्धित है, सर्वत्र सम्बन्ध वाली नहीं है।

व्याख्या—आचार्य जैमिनी के मत की पोषक रहने पर भी वह श्रुती सब विषयों से सम्बन्धित नहीं है, केवल उद्गीथ विषयक होने से एकदेशीय है। इस प्रकार वह केवल उद्गीथ विद्या को ही कर्म का अंग कहती है, अन्य विद्याओं से उसका सम्बन्ध न रहने से यही मान्यता ठीक है।

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—शतवत=सौ मुद्राओं के, विभागः=विभाग के समान इसे समझना चाहिए।

व्याख्या—जैसे कुछ लोगों का हिसाब चुकाने के लिए सौ मुद्राऐं रखली जायँ और उनमें से जितना जिसे देना है, उसी हिसाब से मुद्राऐं दी जाती हैं। अर्थात् किसी को ५ मुद्राऐं, किसी को १० मुद्राऐं और किसी को ८५ मुद्राऐं, उस-उसके अधिकार के अनुसार दी गईं। वैसे ही यहाँ फल का विभाग समझना चाहिए। साधन से गिरे हुए, अथवा वासना में लिप्त मनुष्यों को उनके विद्या और कर्म दोनों संस्कारों के अनुसार फल मिलेगा, परन्तु ब्रह्मज्ञानी के कर्म तो यहीं नष्ट हो जाते हैं, ब्रह्मलोक गमन के समय कर्म उसके साथ नहीं जाते, वह तो केवल विद्या के बल से ही ब्रह्मलोक में पहुँचता है।

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—अध्ययनमात्रवतः=विद्या का अध्ययन मात्र करने वाले विद्वान् के सम्बन्ध में यह विधान है।

व्याख्या—विद्या सम्पन्न व्यक्ति के लिए कर्म करने का जो उपदेश प्रजापति ने किया है, वह गुरुकुल से अध्ययन करके लौटने वाले स्नातक ब्रह्मचारी के लिए है। ब्रह्म विद्या का अध्ययन करके निकलने पर मनन और निदिध्यासन पूर्वक अनुष्ठान का विधान, सविधि कर्म का अनुष्ठान नहीं है।

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—अविशेषात्=आत्मज्ञानी को कर्म में लगाने के लिए विशेष रूप से नहीं कहा गया है, इसलिए, न=ऐसा नहीं है।

व्याख्या—जीवन भर कर्म करने के लिए जो कहा गया है, वह ब्रह्मज्ञानी के लिए विशेष रूप से नहीं है। उमसे विद्या का कर्माङ्ग होना या विद्या से पुरुषार्थ की सिद्धि न होना, सिद्ध नहीं होता।

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, स्तुतये=विद्या की स्तुति के लिए, अनुमति=सब काल में कर्मानुष्ठान की अनुमति समझनी चाहिए।

व्याख्या—उस श्रुति में कर्मानुष्ठान की व्यवस्था विद्या की प्रशंसा ही समझी जा सकती है। यदि इसे समान भाव में ज्ञानी के लिए भी मान लें, तो भी वह ब्रह्मज्ञानी उन कर्मों से लिप्त नहीं होते, यह श्रुति-वाक्य इसमें प्रमाण रूप है।

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—च=और, एके=कई एक शाखा वाले विद्वान्, कामकारेण=इच्छानुसार (कर्म त्याग कर देते हैं)।

व्याख्या—ब्रह्मज्ञानी स्वेच्छापूर्वक कर्म का त्याग कर देता है। वाजसनेयक में "एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणावर्द्धते नो

कनीयान्" अर्थात् 'ब्राह्मण की ऐसी महिमा है कि वह कर्म से न बढ़ता है, न घटता है' ऐसा कहा है। यहाँ ब्राह्मण का अर्थ ब्रह्मानुभवी या ब्रह्मज्ञानी समझना चाहिये। इस प्रकार कर्म से वृद्धि आदि लाभ न होने से कर्म का त्याग करना उचित ही है।

उपमर्दं च ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—च=और, उपमर्दम्=ब्रह्म विद्या से कर्मों का नाश कहा है।

व्याख्या—श्रुति में ब्रह्मज्ञान होने पर कर्मों का नष्ट होना कहा है। गीता में भी "यथैधांसि समिद्धोऽग्निः" इत्यादि से 'काष्ठ को अग्नि द्वारा भस्म करने के समान ज्ञानाग्नि का सब कर्मों को भस्म कर देना कहा है। उससे ब्रह्मज्ञानी को कर्म की अनावश्यकता का प्रतिपादन होता है।

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—ऊर्ध्वरेतस्सुः=वीर्य सुरक्षित रखने का विधान करने वाले ब्रह्मचर्याश्रमों में, च=भी (ब्रह्म विद्या रहती है), हि=यही, शब्दे=श्रुति कहती है।

व्याख्या—जिन आश्रमों में वीर्यवाहिनी नाड़ी को, किसी प्रकार च्युत न हो सकने के लिए, ऊर्ध्ववाहिनी की जाती है, उन ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों में अग्निहोत्र आदि कर्मों के रहने पर भी ब्रह्म विद्या का अधिकार रहता है। इससे भी विद्या का कर्माङ्ग होना सिद्ध नहीं होता।

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—जैमिनिः=जैमिनिः अचोदना=ऊर्ध्वरेता आश्रमों का विधान न होना, परामर्शम्=पूर्वोक्त श्रुति वर्णित आश्रमों का अनुवाद मात्र मानते हैं, च=क्योंकि, अपवदति=श्रुति आश्रमों का निषेध, हि=ही (करती है)।

व्याख्या—आचार्य जैमिनि का मत है कि उक्त प्रकार के आश्रम पालन करने योग्य नहीं हैं। गृहस्थाश्रम में कर्म करते हुए ही पुरुषार्थ की सिद्धि हो सकती है। उक्त श्रुति में भिक्षुचर्य्या करने के वाक्य से संन्यास आश्रम का अनुवाद मात्र होना बताया है, इसमें विधि को सूचित करने वाले क्रियापद का प्रयोग न होने से इसे विधि नहीं मान सकते। तैत्तरीयक श्रुति "वीरहा एष वै देवानां वोऽग्निमुद्वासयते" से अग्निहोत्र के त्याग करने वाले को देवताओं के वीरों को मारने वाला कहा है। इससे भी सन्यास अथवा ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों का अपवाद सिद्ध होता है।

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—बादरायणः=आचार्य बादरायण का मत है कि, अनुष्ठेयम्=गृहस्थ के समान ही उक्त आश्रम-धर्म वालों को भी उन धर्मों का पालन करना चाहिये क्योंकि, साम्यश्रुतेः=श्रुति उनके धर्म-कर्त्तव्य की समानता बताती हैं।

व्याख्या—जैमिनि के मत का खण्डन करते हुए बादरायण उन आश्रमों का श्रुति में अनुवाद होना स्वीकार करते हुए कहते हैं कि जो अन्यत्र मान्य हो, उसी का अनुवाद होता है। विभिन्न श्रुतियों में ग्रहस्थ-आश्रम के विधान के समान, अन्य आश्रमों का भी विधान मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि गृहस्थ-धर्म के अनुष्ठान के समान ही सब आश्रम-धर्मों का अनुष्ठान करना उचित है। अग्निहोत्र का त्याग उसके अधिकारी ही कर सकते हैं, गृहस्थ और वानप्रस्थियों को वैसा करना निषिद्ध है। सन्तति की परम्परा नष्ट न होने देने का उपदेश गृहस्थियों अथवा पूर्ण विरक्त न होने वालों के लिये है, संन्यासियों के लिए नहीं।

विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, विधिः=अन्य आश्रमों की विधि ही

समझनी चाहिए, धारणवत्=जैसे पितृ यज्ञ से सम्बन्धित प्रेताग्निहोत्र में हवि के नीचे समिधा धारण की जाती है। (अन्य यज्ञों में ऐसा विधान नहीं है)।

व्याख्या—स्रुच् में प्रक्षिप्त हवि को आहवनीय के प्रति लेते समय हवि के नीचे समिधा धारण करे, क्योंकि समिधा का ऊपर धारण करना देवों के लिए होता है। इसमें ऊपर धारण की क्रिया को अपूर्व न होने से विधि माना गया है। इसी प्रचार चारों आश्रमों के सांकेतिक वर्णन को अनुवाद नहीं माना जा सकता। विभिन्न श्रुतियों में आश्रमों के लिए विधि कही गई है। जहाँ संकेत रूप से आश्रम-वर्णन हो, वहाँ सांकेतिक विधि माननी चाहिए।

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, उपादानात्=उद्गीथ के महिमा सूचक वचनों में उनके उपादान-सम्बन्ध से वर्णन करने के कारण, स्तुतिमात्रम्=वह उनकी स्तुति मात्र ही है, इति न=तो ऐसा नहीं है, क्योंकि, अपूर्वत्वात्—पहिले उन उपासनाओं के रसोत्तमत्व को सिद्ध नहीं किया गया है।

व्याख्या—यदि उद्गीथ के विषय में कहे गए श्रुति वचनों को स्तुति मात्र ही कहो और सभी कर्माङ्गभूत उपासनाओं के गुणों को उनकी स्तुति मात्र बताओ तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वे उपासनाएं और उनसे सम्बन्धित गुणों को पहिले कहीं नहीं कहा गया है। छान्दोग्य (१।१।३) में कहा है कि "यह जो उद्गीथ है, वह रसोत्तम, ब्रह्म का आश्रय और पृथिवी आदि रसों में आठवाँ सर्वश्रेष्ठ रस है।" ऐसा वर्णन अन्यत्र कहीं न होने से अपूर्व है और "विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्" इत्यादि वाक्यों से यह अपूर्व विधि है, प्रशंसामात्र नहीं।

भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—च=तथा, भावशब्दात्=विधि वाचक शब्दों के प्रयोग से भी यह मान्यता उचित है।

व्याख्या—विधि मानने में 'अपूर्व होना ही कारण हो, ऐसी बात नहीं है, किन्तु, उस प्रकरण में विधि सूचक शब्दों की भी स्पष्टोक्ति है, जैसे छान्दोग्य (१।१।१) 'उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए' इन उपासनाओं की अपूर्व विधि बताने के समान ही उनका अपूर्व काल भी कहा गया है, इसलिये इसे स्तुति मात्र कहना युक्तिसंगत नहीं है।

पारिप्लवार्था इति चेन्नविशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, पारिप्लवार्थाः=उपनिषदोक्त आख्यायिकाएँ पारिप्लव कर्म के योग्य हैं तो, इति न=ऐसा नहीं है, क्योंकि, विशेषितत्वात्=वहाँ कुछ आख्यायिकाएँ ही विशेष रूप से ग्रहण की गई हैं।

व्याख्या—उपनिषदों में बहुत-सी कथाओं का प्रसंग मिलता है, जिनमें मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य, यम-नचिकेता, जानश्रुति-रैक्व प्रभृति उपाख्यान हैं। इन सबको पारिप्लव नामक कर्म की अंगभूता कहो तो नहीं कह सकते, क्योंकि जहाँ "पारिप्लवमाचक्षीत" अर्थात् पारिप्लव की कथा कहने की व्यवस्था की है, उससे आगे ही 'मनुर्वैवस्वतोराजा" आदि विशेष कथाऐं कही हैं, वे कथा ही पारिप्लव हैं। इसलिए सभी कथाऐं पारिप्लव कर्म की अंगभूना होना सिद्ध नहीं होतीं।

तथाचैकवाक्यतोपबन्धात ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—तथा च=इस प्रकार, एकवाक्यतोपबन्धात्=इन कथाओं की विद्याओं से समानता का वर्णन होने से यह मान्यता ठीक है।

व्याख्या—उपनिषदों की आख्यायिकाऐं ब्रह्म के स्वरूप का सर-

नता पूर्वक ज्ञान कराने के निमित्त कही गई हैं, तथा उन प्रकरणों में कही गई विद्याओं से भी इन कथाओं का एक-वाक्यरूप सम्बन्ध होने से इन्हें पारिप्लव कर्म का अङ्ग नहीं माना जा सकता। इस प्रकार यह कथायें ब्रह्म-विद्या की ही अङ्गभूता सिद्ध होती हैं।

अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।। २५ ।

सूत्रार्थ—च=और, अतएव=इस प्रकार, अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा=इस ब्रह्म-विद्या रूप यज्ञ को अग्नि, ईंधन आदि किसी सामग्री की अपेक्षा नहीं है।

व्याख्या—उपरोक्त प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध हुआ कि यह जो ब्रह्म-विद्या रूप महायज्ञ है, इसके लिए किसी प्रकार की यज्ञ-सामग्री आवश्यक नहीं है, ईंधन, अग्नि, घृत आदि कुछ भी नहीं चाहिए। यह यज्ञ तो स्वयं सिद्ध है और जब इसकी सिद्धि हो जाती है, तब ब्रह्म का साक्षात्कार ही फलत्व प्रतिपादन है। इस प्रकार ब्रह्म विद्या स्वतन्त्र होने से कर्म की अङ्गरूप नहीं हो सकती।

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ।। २६ ।।

सूत्रार्थ—च=तथा, सर्वापेक्षा=विद्या प्राप्ति के लिए सब कर्मों की अपेक्षा है, क्योंकि, यज्ञादिश्रुतेः=यज्ञादि कर्म ब्रह्म-विद्या में हेतु सुने जाते हैं, अश्ववत्=जैसे घोड़ा पर सवारी के लिए चढ़ा जाता है, मकान पर चढ़ने के काम वह नहीं आता, वैसे ही कर्म विद्या की प्राप्ति के लिए तो आवश्यक है, परन्तु ब्रह्म-प्राप्ति के लिये उसकी आवश्यकता नहीं है।

व्याख्या—वृहदारण्यक (४-४-२२) में "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मण विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" के अनुसार 'इस ब्रह्म को ब्राह्मण निष्काम भाव से स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तप से जानने की इच्छा करते हैं।' इस प्रकार कहने से प्रतीत होता है कि ब्रह्म तत्व को

जानने के लिए वर्णाश्रम सम्बन्धी सभी कर्मों की आवश्यकता है। जैसे घोड़ा सवारी करके कहीं जाने के कार्य में आता है, परन्तु किसी मकान पर चढ़ने के कार्य में नहीं आ सकता वैसे ही विद्या-प्राप्ति के लिए कर्म की आवश्यकता स्वीकार करते हुए भी, ब्रह्म-प्राप्ति में उसकी अपेक्षा निरर्थक सिद्ध होती है।

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—तथापि=तो भी, शमदमाद्युपेतः=शम, दम आदि गुणों से युक्त, स्यात्=होना चाहिए, तु=क्योंकि, तदंगतया=उस ब्रह्म-विद्या के अंग रूप से, तद्विधेः=उन गुणों का विधान हुआ है, इसलिए, तेषाम्—उनका, अवश्यानुष्ठेयत्वात्=अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए।

व्याख्या—श्रुति में ब्रह्म को जानने की इच्छा वाले साधक को शम, दम, आदि साधनों का विधान किया गया है। 'तस्मादेवंवित्' इत्यादि श्रुति के द्वारा शम, दम आदि को विद्या का अङ्ग विधान करने से, उनका अनुष्ठान साधक को करना चाहिए।

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ—सर्वान्नानुमतिः=सब प्रकार का अन्न खाने की आज्ञा, च=तो, प्राणात्यये=अन्न के बिना प्राण जाने की आशंका होने पर है, क्योंकि, तद्दर्शनात्=श्रुति में यही देखा जाता है।

व्याख्या—भक्ष्य, अभक्ष्य, अन्न भक्षण की व्यवस्था श्रुति में देखी जाती है। परन्तु, यह व्यवस्था अनुज्ञा मात्र ही समझनी चाहिए। जब कहीं से शुद्ध अन्न-प्राप्ति की आशा न रहे और अन्न के अभाव में प्राण जाने की आशङ्का हो तभी दूषित अन्न खाना उचित है। छान्दोग्य में चाक्रा-

[प्र]रण नामक ऋषि की कथा मिलती है, उन्होंने अन्न के बिना प्राण जाने [क]े भय से, चाण्डाल के झूठे अन्न का भक्षण किया था। चाण्डाल द्वारा [ज]ल प्रस्तुत करने पर उन्होंने उसे नहीं पिया, क्योंकि जल सब जगह [मि]ल सकता था। इससे सिद्ध होता है कि नितांत आवश्यकता के बिना [दू]षित अन्न भोजन का श्रुति ने निषेध किया है।

अबाधाच्च ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ—अबाधात्=बाधा न होने से, च=भी ऐसी ही मान्यता ठीक है।

व्याख्या—प्राण रक्षा के लिए अभक्ष्य का भक्षण करने से अन्य श्रुति में बाधा नहीं हुई। क्योंकि "आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः" इत्यादि से छांदोग्य श्रुति 'आहार के शुद्ध होने से अन्तःकरण की शुद्धि मानती है।' इस प्रकार आपत्ति काल के सिवा अन्य कभी दूषित भोजन न करना ही उचित सिद्ध होता है।

अपि च स्मर्यते ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—अपि च=इसके अतिरिक्त, स्मर्यते=स्मृति भी ऐसा ही कहती है।

व्याख्या—मनुस्मृति (१०-१०४) के अनुसार 'प्राण निकलने के डर से जहाँ-तहाँ का भी अन्न खा लेने पर पाप से लिप्त नहीं होता', जैसे 'कीचड़ फेंकने से आकाश लिप्त नहीं होता।'

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ—अकामकारे=स्वेच्छापूर्वक दूषित अन्न भक्षण के निषेध में, शब्दः=श्रुति शब्द, च=भी हैं, अतः=इसलिए निषिद्ध भोजन नहीं कनार चाहिए।

व्याख्या—स्वेच्छा से निषिद्ध भोजन नहीं करना चाहिए, आपत्ति काल में ही इसकी छूट है।

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ—च = और, विहितत्वात्=शास्त्र विहित होने से, आश्रम कर्म=आश्रम सम्बन्धी कर्म, अपि=भी करने चाहिए।

व्याख्या—ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने पर भी शरीरिक कर्म अथवा दम-शम आदि कर्म उचित बताए गये हैं, उसी प्रकार अपने-अपने आश्रम के कर्म भी ब्रह्म-ज्ञानियों को करने चाहिए। उन कर्मों के करने से विद्या की वृद्धि होती है।

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ—सहकारित्वेन=उन कर्मों को, साधना में सहायक होने से, च=भी (आवश्यकता मानी गई है)।

व्याख्या—निष्काम भाव से किये जाने वाले आश्रम सम्बन्धी कर्म (आचार, व्यवहार आदि) साधन में सहायक सिद्ध होते हैं, इसलिए उनका पालन करना आवश्यक कहा गया है।

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थ—सर्वथा = सब प्रकार से, अपि=भी, ते=वे कर्म, एव=करने ही चाहिए, क्योंकि, उभयलिंगात्=श्रुति-स्मृति दोनों वर्णनात्मक लक्षण से यह कहना युक्तिसंगत है।

व्याख्या—उपरोक्त आश्रम धर्मों का पालन करने के लिये श्रुति "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि (बृह० ४-४-२२) और स्मृति "सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो" इत्यादि (गीता ३-२५) से 'अज्ञानी के कर्म में आसक्त होने के समान ही ज्ञानी को भी लोकसंग्रहार्थ अनासक्त रूप से कर्म करने' का उपदेश प्रतिपादित होता है। इस प्रकार धर्मानुष्ठानों का कर्त्तव्य दोनों लक्षणों से सिद्ध हुआ।

अनभिभवं च दर्शयति ।। ३५ ।।

सूत्रार्थ—च=और, अनभिभवम्=पापों से अभिभूत न होना, दर्शयति=श्रुति दिखाती है।

व्याख्या—श्रुति ने अनुष्ठाता ज्ञानी का पापों से अभिभूत न होना भी कहा है। वृहदारण्यक के अनुसार आत्मज्ञानी हृदय में स्थित आत्म-रूप ब्रह्म के साक्षात् से सब पापों से पार हो जाता है, उसे पाप कष्ट नहीं पहुँचाते, किन्तु वही पापों को सन्ताप देने वाला हो जाता है। इसी प्रकार छान्दोग्य (८।५।३) 'एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्म-चर्येणानुविन्दते'' में ब्रह्मचर्य रूप अनुष्ठान से जिस आत्मा की प्राप्ति कही है, वह प्राप्ति नष्ट नहीं होती।

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ।। ३६ ।।

सूत्रार्थ—तु=किंतु, अन्तरा=आश्रम धर्म के बिना, अपि=भी (मोक्ष प्राप्ति सम्भव है) च=और, तद्दृष्टेः= श्रुति में ऐसा देखा जाता है।

व्याख्या—श्रुति में रैक्व आदि अनेक ब्रह्मनिष्ठों का वर्णन है, जो बिना आश्रम के ही मुक्त हो गए। आश्रम धर्म न होने पर भी पूर्व जन्म में अनुष्ठित धर्म आदि के द्वारा विद्या का आविर्भाव हो जाता है। धर्मों की फल प्राप्ति से पहिले ही मृत्यु हो जाने पर फल-सम्बन्ध बना रहता है और दूसरे जन्म में शुद्ध वृत्ति की सुसंगति से ही विद्या प्रकट होने लगती है।

अपि च स्मर्यते ।। ३७ ।।

सूत्रार्थ—अपि च=इसके अतिरिक्त, स्मर्यते=स्मृति भी ऐसा ही कहती हैं।

व्याख्या—श्रुति के अतिरिक्त स्मृति भी बिना आश्रम धर्म के

ही मोक्ष प्रतिपादित करती हैं। गीता में तो "मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य" इत्यादि (९।३२) में 'स्त्री, वैश्य, शूद्रादि तथा अन्य सभी पाप-योनि वालों का ईश्वर के शरणागत होकर परमगति को प्राप्त होना' भगवान् स्वयं कहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि बिना धर्म, कर्म, साधन के भी ईश्वर-भक्त की मुक्ति हो जाती है।

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थ—च=तथा, विशेषानुग्रहः=भक्तों पर भगवान् का विशेष अनुग्रह रहता है।

व्याख्या—भगवान् अपने भक्तों पर विशेष अनुग्रह करते हैं, इसका प्रमाण गीता में मिलता है। वे कहते हैं 'यद्यपि मैं समान भाव से सब भूतों में व्याप्त हूँ, मेरा कोई प्रिय या अप्रिय नहीं है, परन्तु, जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे मुझमें और मैं उनमें प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होता हूँ। यदि कोई दुराचारी भी अनन्य भाव से निरन्तर मेरा भजन करता है, उसे साधु ही समझना चाहिए, क्योंकि उसका निश्चय यथार्थ है।' (गीता ९।२९,३०) भक्तों पर विशेष अनुग्रह वाली बात को स्वीकार करते हुए भगवान् स्वयं श्रीमद्भागवत् में "अहं भक्त पराधीनो" इत्यादि (९।४।६३)। से, 'मैं भक्त के अधीन होने से परतन्त्र-सा हूँ, क्योंकि मैं भक्तों को प्रिय हूँ, उन साधु भक्तों ने मेरा हृदय जीत लिया है।"

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

सूत्रार्थ—अतः=इस प्रकार, इतरज्ज्यायः=भक्ति श्रेष्ठ है, तु=तथा लिङ्गात्=लक्षणों से, च=भी (यही ठीक मालूम होता है)।

व्याख्या—भक्ति विषयक धर्म ही श्रेष्ठ है यह बात ऊपर के प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है। श्रुति और स्मृति दोनों प्रमाणों से यही बात ठीक है। श्वेताश्वतर श्रुति में कहा है कि—हे साधक ! सम्पूर्ण

विश्व के सृष्टा सर्वान्तरयामी ब्रह्म की प्रेरणा से उसी ब्रह्म की सेवा-आराधना करो, उसी की शरण लेकर उसी में विलीन हो जाओ, इस प्रकार तुम्हारे पहिले किये हुए कर्म (वासना इत्यादि) साधन में विघ्न नहीं पहुँचायेंगे।' सेवा और आराधना के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत् में नवधा भक्ति का वर्णन हुआ है। भक्त प्रहलाद कहते हैं कि 'भगवान् विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, साख्य भाव रखे और आत्म-निवेदन करे।' इस प्रकार भक्ति-भाव की श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

तद्भूतस्य नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥

सूत्रार्थ—तद्भूतस्य=उच्च आश्रम में प्रविष्ट पुरुष का, तु=तो, अतद्भावः=उसे त्याग कर पहिले आश्रम में लौटना, न=उचित नहीं, क्योंकि, नियमातद्रूपाभावेभ्यः=आश्रम परिवर्तन करने के श्रुति-सम्मत नियम के यह विपरीत है, जैमिनेः=आचार्य जैमिनि, अपि=भी ऐसा मानते हैं।

व्याख्या—संन्यासी का वानप्रस्थ या गृहस्थ आश्रम में लौटना अथवा वानप्रस्थी का गृहस्थ आश्रम में आना शास्त्र के विपरीत है। क्योंकि ब्रह्मचारी से गृहस्थ, गृहस्थ से, वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने का विधान है। इसके सिवा ब्रह्मचारी, गृहस्थी संन्यास आश्रम में सीधे भी प्रवेश कर सकते हैं, परन्तु ऊपर से नीचे के आश्रम में लौटने का विधान कहीं भी नहीं है। इसी मत का आचार्य जैमिनि ने अनुमोदन किया है।

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ च=तथा, आधिकारिकम्=अधिकार युक्त, अपि=भी, न=नहीं है, क्योंकि, पतनानुमानात्=उसके पतनो-

न्मुख होने का अनुमान (स्मृति-वचन) है, तद्योगात्= (इसलिए) वह प्रायश्चित के भी योग्य नहीं समझा जाता है।

व्याख्या—ब्रह्मचारी का व्रत भङ्ग होने पर उसका प्रायश्चित हो सकता है और गृहस्थ से भी नियम भंग हो जाय तो वह भी प्रायश्चित कर सकता है, परन्तु संन्यास या वानप्रस्थ ग्रहण कर लेने वाला आश्रम-नियमों को भंग करदे और पतित हो जाय तो उसके लिए किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं है।

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थ—एके=कई एक आचार्य, उपपूर्वम्=उपपातक भाव, अपि=भी मानते हैं और, अशनवत्=भक्ष्याभक्ष्य के प्रायश्चित्त के समान, भावम्=प्रायश्चित्त भाव मानते हैं, तदुक्तम्=ऐसा ही श्रुति कहता है।

व्याख्या—कितने ही आचार्य इस प्रकार के पतन को उपपातक मानते हुए उसका प्रायश्चित्त होना मानते हैं। जैसे दूषित अन्न खाने के लिए शास्त्रों में प्रायश्चित्त का विधान है, वैसे ही संन्यासी और वान-प्रस्थी भी व्रत भंग होने पर प्रायश्चित्त करने के अधिकारी हैं। प्रायश्चित्त का अभाव तो इस लए कहा गया है जिससे यह अपने व्रत की यत्न-पूर्वक रक्षा कर सकें।

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थ—तु—तो, उभयथापि=दोनों तरह से, बहिः= वह बहिष्कृत है, क्योंकि, स्मृतेः=स्मृति के प्रमाण से, च=और, आचारात्=आचरण करने से भी यह मान्यता ठीक है।

व्याख्या—उच्च आश्रम से पतित संन्यासी, वानप्रस्थी दोनों ही महापातक या उपपातक भेद से प्रायश्चित्त के अधिकारी या अनधिकारी कैसे भी हों वे बहिष्कृत ही होने चाहिए। अन्यथा आश्रम-व्यवस्था की

परम्परा नष्ट हो जायगी और उच्च आश्रमों में भी आचरण सम्बन्धी दोष उपस्थित होगा।

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥

सूत्रार्थ—आत्रेयः=आचार्य आत्रेय का, इति=इस प्रकार मत है कि, स्वामिनः=उपासना में यजमान का कृत्य है, क्योंकि फलश्रुतेः=यजमान के लिए ही फल का होना सुना जाता है।

व्याख्या—उपासना में जब यजमान ऋत्विजों का वरण कर, उनसे कर्म कराता है तब उस कर्म का फल ऋत्विजों को नहीं मिलता, यजमान को मिलता है। छान्दोग्य (२।३।२) में "वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवंविद्वान् वृष्टौ पंचविधं सामोपास्ते" अर्थात् 'जो विद्वान वृष्टि यज्ञ में पाँच प्रकार के साम की उपासना करता है, वह इस (यजमान) के लिए वर्षा कराता है, उसी से वर्षा होती है।' वृहदारण्यक (१।३।२८) में "आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति" अर्थात् 'ऋत्विज् अपने या यजमान के लिए जिसकी कामना करता है, उसे पाता है', यहाँ 'अपनी या यजमान की' कामना से शङ्का हो सकती है कि फल का अधिकारी ऋत्विज् हुआ या यजमान ? तो यह समझना चाहिए कि जैसे न्यायालय में वकील अपने मवक्किल के वाद को अपना ही वाद बताता है और उसका अर्थ मवक्किल के लिए ही समझा जाता है, वैसे ही यहाँ फल यजमान को ही होगा।

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ४५ ॥

सूत्रार्थ—आर्त्विज्यम्=ऋत्विज् का कर्तृत्व है, इति=ऐसा, औडुलोमिः=औडुलोमि आचार्य का मत है, हि=क्योंकि, तस्मै=उस यजमान के लिए, परिक्रीयते=वह ऋत्विज् खरीदा जाता है।

व्याख्या—औडुलोमि आचार्य यज्ञादि कर्मों में ऋत्विजों का ही कर्त्तापन मानते हैं, क्योंकि धन आदि देकर ही यजमान उसका वरण

कर लेता है, परन्तु, यजमान द्वारा दी गई दक्षिणा का ही वह अधिकारी होता है, फल का अधिकार तो यजमान को ही है।

श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

सूत्रार्थ—श्रुतेः=श्रुति द्वारा, च=भी (ऐसा ही मान्य होता है)।

व्याख्या—ऋत्विज् का कर्म यजमान के निमित्त होता है, इसका प्रमाण छान्दोग्य में "तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात्कं ते काममागायानि" अर्थात् 'इसलिए विद्वान् उद्गाता (यजमान से) कहे कि तेरे किस काम के लिए गान करूँ?' इससे भी यजमान का ही फल में अधिकार सिद्ध होता है।

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४७ ॥

सूत्रार्थ—तद्वतः=उस साधक के लिए, तृतीयम्=बाल्य और पाण्डित्य का सहकारी मौन, विधेय है क्योंकि, सहकार्यन्तरविधिः=उसको अन्य सहकारी साधन कहा है, विध्यादिवत्=अन्य स्थल के विधि वाक्यों के समान, पक्षेण=पक्षान्तर से यह विधि भी कही गई है।

व्याख्या—वृहदारण्यक में कहोल-याज्ञवल्क्य सम्वाद में कहा है—"तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः" अर्थात् "वैराग्य लेने के लिए ब्राह्मण पांडित्य को भले प्रकार समझ कर बालक के समान निरभिमान होकर रहे, फिर मुनि हो जाय फिर मौन, अमौन दोनों से उपरत हो जाय तब ब्रह्मवेत्ता बनता है।' इसमें पाण्डित्य और बाल्य-भाव के लिए तो "तिष्ठासेत्" अर्थात् 'स्थित रहने की इच्छा करे' यह विधि वाक्य कह दिया, किन्तु, मुनि के लिए कोई विधि वाक्य न होने पर सूत्रकार एक के लिए प्रयुक्त

विधिवाक्य को दूसरे के लिए भी मानने का निर्देश करते हैं। यहाँ मुनि से श्रवण, विचार, बच्चों के समान सरलता और निरभिमानत्व के परिपक्व होने पर मनन और मौन भाव बनता है। इस तृतीय साधन के लिए भी पक्षान्तर से विधिवाक्य समझ लेना ठीक है। मौनावस्था के पश्चात् ही ब्रह्म-साक्षात्कार हो सकता है।

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४८ ॥

सूत्रार्थ—कृत्स्नभावात्=सम्पूर्ण भावों से (सम्पन्न होने के कारण), तु=ही, गृहिणा=गृहस्थाश्रमी से, उपसंहारः= ब्रह्म विद्या विषयक प्रकरण का उपसंहार हुआ है।

व्याख्या—गृहस्थाश्रम में चारों आश्रम का भाव है, क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होना कहा है, दूसरे गृहस्थाश्रम में स्थित गुरु से ही शिष्य ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा प्राप्त करता है और वानप्रस्थ या संन्यास आश्रमों में प्रविष्ट होने वाले गृहस्थी ही हैं और उन सभी आश्रमों का पालन भी गृहस्थाश्रम से ही होता है, इसलिए सब आश्रमों का भाव वहाँ उपस्थित होना कहा है। साथ ही ब्रह्म विद्या का अधिकार चारों ही आश्रमों में स्थित साधकों को है, इसलिए उस प्रकरण में गृहस्थाश्रम का वर्णन करते हुए उपसंहार किया गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि गृहस्थ ही ब्रह्म विद्या का अधिकारी है, किन्तु, यह मानना चाहिए कि केवल संन्यासी आदि उच्च आश्रम वाले ही ब्रह्म विद्या के अधिकारी नहीं हैं, गृहस्थ आश्रमी को भी ब्रह्म विद्या प्राप्ति का अधिकार है।

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४९ ॥

सूत्रार्थ—इतरेषाम्=अन्य आश्रमियों को, अपि=भी, मौनवत्=मौनावस्था के समान, उपदेशात्=कहा जाने के

कारण (सभी आश्रम वालों का ब्रह्मविद्या का अधिकार मान्य होता है)।

व्याख्या—मौन अवस्था का साधन जैसे सभी आश्रमों में किया जा सकता है, वैसे ही श्रुति, विद्या के लिए उपर्युक्त सब साधनों का, सभी आश्रम वालों के लिए विधान करती है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म विद्या का अधिकार सभी आश्रम वालों को है।

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ५० ॥

सूत्रार्थ—अनाविष्कुर्वन=बालकों के अन्य गुणों को ग्रहण न कर केवल निरभिमानिता और सरलता को ग्रहण करे, क्योंकि, अन्वयात्=उसी का यहाँ अन्वय है।

व्याख्या बालक के भावों का ग्रहण करना ब्रह्मज्ञानी के लिए कहा है। बालकों में जो सद्गुण मान, दम्भ आदि से रहित होना आदि होते हैं, वैसे ही भाव ब्रह्मज्ञानी में रहने चाहिए। इस सम्बन्ध में "यं न सन्तं न चाऽसन्त नाऽश्रुतं न बहुश्रुतम् न सुव्रत्त व दुर्वृत्त वेद कश्चित् स ब्राह्मणः" अर्थात् 'ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) वह है, जिसका सज्जनता, असज्जनता, विद्वता, मूर्खता, सदाचरण, दुराचरण आदि का किसी को ज्ञान न हो' अर्थात् बालक के समान अपने पाण्डित्य आदि भावों का प्रदर्शन न करे।

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५१ ॥

सूत्रार्थ—अप्रस्तुतप्रतिबन्धे=प्रतिबन्ध उपस्थित न होने पर, ऐहिकम्=इस जन्म में, अपि=भी (फल प्राप्त हो सकता है), तद्दर्शनात्=ऐसा ही वर्णन देखा जाता है।

व्याख्या—ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में यदि किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो तो इसी जन्म में साधक को मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है। श्रुति में देखा जाता है कि वामदेव ऋषि को इसी जन्म में ज्ञान की

प्राप्ति हो गई थी। यदि साधना के बीच में ही विघ्न उपस्थित हो जाय—मृत्यु हो जाय तो पूर्व-संस्कार से प्राप्त बुद्धि उसे दूसरे जन्म में स्वयं ब्रह्म प्राप्ति के साधन में लगा देती है।

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५२ ॥

सूत्रार्थ—एवम्=इस प्रकार, मुक्तिफलानियमा=मुक्ति रूप फल की प्राप्ति में कोई नियम नहीं है, क्योंकि, तदवस्थावधृतेः=उस मुक्त की अवस्था निर्धारित की गई है, (इस कथन की पुष्टि और अध्याय समाप्ति के लिये), तदवस्थावधृतेः=उस मुक्त की अवस्था निर्धारित की गई है—ऐसा पुनर्वार कहा है।

व्याख्या—ब्रह्म विद्या का फल इसी जन्म में मिले या दूसरे जन्म में, इसका कोई निश्चित नियम नहीं होता, इसी प्रकार वह फल इस लोक में मिले या ब्रह्मलोक में, इसका भी कोई निश्चित नियम न होने से इस जन्म में या दूसरे जन्म में अथवा इस लोक में या ब्रह्मलोक में, कभी भी, कहीं भी मिल सकता है। यह साधक की भावना आदि पर निर्भर है, क्योंकि श्रुति में मुक्त अवस्था का स्वरूप निर्धारित है। "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" इत्यादि कठश्रुति के अनुसार जब साधक की हृदयगत सब कामनाओं का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वह अमृत हो जाता है, और उसे इस लोक में ही ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।

॥ चतुर्थः पादः समाप्त ॥

॥ तृतीयः अध्यायः सम्पूर्णम् ॥

चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमः पादः

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—आवृत्तिः = उपासना का बार-बार अभ्यास करे, क्योंकि, असकृदुपदेशात् = बार-बार ऐसा कहा गया है।

व्याख्या—श्रुतियों में ब्रह्मज्ञान विषयक उपदेश बारम्बार किया गया है, इससे प्रतीत होता है कि साधक को उपासना का अभ्यास बारम्बार करना चाहिए। प्रहलाद ने भगवान् विष्णु की उपासना के जो नौ अङ्ग कहे उनमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पद सेवन, पूजन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन यह नौ भाव हों प्रत्येक अङ्ग में उपस्थित हैं। एक के वर्णन से सभी का वर्णन स्वयं हो जाता है। जो प्रभु-कथा सुनेगा, वह कहेगा भी, स्मरण भी करेगा, परन्तु उसके नौ भेद बना कर नौ बार कहने का तात्पर्य उपासना की आवृत्ति से ही है। इससे सिद्ध होता है कि बारम्बार अभ्यास करने से सिद्धि शीघ्र हो जाती है।

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—लिङ्गात् = स्मृति-कथन से, च = भी उपासना की बारम्बार आवृत्ति करने की मान्यता सिद्ध होती है।

व्याख्या—भगवद्गीता में "तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च" कहकर 'सब समय में निरन्तर स्मरण' करने का उपदेश दिया है। 'स्मरण भी कर और युद्ध भी करता रह' इन दोनों कार्यों को करता हुआ 'अर्पणयुक्त मन-बुद्धि से निःसन्देह ब्रह्म-प्राप्ति' का उपदेश स्वयं

भगवान् ने किया है। इससे ब्रह्म विद्या के साधनों को बारम्बार आवृत्ति होने से शीघ्र ही सिद्धि होने का प्रतिपादन होता है।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ।। ३ ।।

सूत्रार्थ—आत्मा इति=आत्मा है, इस भाव से, तु=तो, उपगच्छन्ति=ज्ञानी जन उसे जानते या प्राप्त होते हैं, च=और, ग्राहयन्ति=दूसरों को ग्रहण कराते हैं।

व्याख्या—उपासक आत्म-भाव से ब्रह्म की उपासना करे। "यस्यात्मा शरीरम्" 'जीवात्मा जिस (ब्रह्म) का शरीर है' अथवा 'वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी है', इत्यादि श्रुति वाक्यों में ब्रह्म को अपना आत्मा मानने का विधान है। इसी आत्म-भाव से ब्रह्मज्ञानी उसे प्राप्त होते हैं और दूसरो को भी—जिन्हें वे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करते हैं, 'सब के अन्तर में रहने वाला यह तेरा आत्मा है' इस प्रकार बता कर ब्रह्म की प्राप्ति कराते हैं।

न प्रतीके न हि सः ।। ४ ।।

सूत्रार्थ—प्रतीके=प्रतीक में, न=आत्म भाव नहीं बनता है, हि=क्योंकि, सः=वह, न=उपासक आत्मा नहीं है।

व्याख्या—आत्मा का प्रतीक मन कहा गया है, परन्तु मन में आत्म-भाव नहीं बनता, क्योंकि मन इन्द्रिय है, ईश्वर नहीं हो सकता, वह ब्रह्मज्ञान का आधार मात्र है। स्मृति में आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, ज्योति, जीव, दिशा, वृक्ष, नदी, समुद्रादि को ब्रह्म का शरीर कहा है यह सब उपासक का आत्मा न हो सकने से आत्म-भाव के अधिकारी नहीं हैं।

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।। ५ ।।

सूत्रार्थ—उत्कर्षात्=ब्रह्म उत्कृष्ट है, इसलिए, ब्रह्म दृष्टि=प्रतीक में ब्रह्म की भावना की जाती है।

व्याख्या—उपास्य की अलभ्यता से, सहज उपलब्ध वस्तु में उपास्य भाव रखकर उसे उसका प्रतीक बनाया जाता है। प्रतीक में उपास्य भाव, उसकी लघुता के कारण किया जा सकता है, परन्तु, उपास्य के श्रेष्ठ होने से उसमें प्रतीक का आरोप नहीं हो सकता। प्रतीक उपासना का विधान उन्हीं उपासकों के लिए उपयोगी है जो उपास्य के तत्त्व को जानने में असमर्थ हैं। इस प्रकार प्रतीकोपासना भी फल दायिनी सिद्ध हो सकती है।

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—च=और, अंग=यज्ञ के उद्गीथ आदि अङ्ग में, आदित्यादिमतयः=आदित्य आदि की दृष्टि करनी चाहिए, क्योंकि उपपत्तेः=यही युक्ति संगत है।

व्याख्या—छान्दोग्य (१-३-१) "य एवाऽसौ तपति तमुद्गीथमुपासीत" के अनुसार उद्गीथ में आदित्य की भावना कर उपासना का विधान है। अर्थात् 'जो यह तप रहा है, उस उद्गीथ की उपासना करे' इससे सिद्ध हुआ कि छोटे में बड़े की भावना करने से फल मिल सकता है, परन्तु बड़े में छोटे के भाव का कोई प्रयोजन नहीं है।

आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—आसीनः=बैठे हुए ही, सम्भवात्=उपासना करना संभव है।

व्याख्या—चलते-फिरते, काम करते, खड़े या सोते हुए में उपासना करना संभव नहीं है, क्योंकि उन स्थितियों में मन अन्य भावों में लगा रहता है और सोते हुए भी नींद आना संभव है। इसलिए बैठे हुए ही उपासना कार्य निर्विघ्न पूर्ण हो सकता है।

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—ध्यानात=ध्यान से च=ही उपासना होती है।

व्याख्या — उपासना में ध्यान आवश्यक है और बैठे हुए ही ध्यान हो सकता है, क्योंकि चलते-फिरते आदि में भाव की चंचलता का रहना स्वाभाविक है। ध्यान की स्थिति एकाग्र मन से ही बनती है। इससे बैठ कर उपासना करना ही उचित है।

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—च=और, अचलत्वम्=निश्चल रहना ही, अपेक्ष्य=आवश्यक कहा गया है।

व्याख्या—उपासक को निश्चल रह कर ही उपासना करनी चाहिए। हिलना-जुलना उपासना में वर्जित है।

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—च=और, स्मरन्ति=स्मरण में भी ऐसा ही आता है।

व्याख्या—स्मृति में भी बैठकर और निश्चल रह कर ही उपासना करने का उपदेश है। गीता (६।१२,१३) के अनुसार आसन पर बैठ, मन को एकाग्र कर, चित इंद्रियों को वश में करे और शरीर, शिर, ग्रीवा को समान और अचल रखते हुए, दृढ़ होकर नासिका के अग्र भाग को देखे, अन्य दिशाओं को न देखे।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—अविशेषात=किसी स्थान का विशेष नियम न होने से, यत्र=जहाँ, एकाग्रता=मन की एकाग्रता हो, तत्र=वहीं बैठकर उपासना करने का विधान है।

व्याख्या—श्वेताश्वतर उपनिषद् (२-१०) "समे शुचौ शर्करा" इत्यादि श्रुति में योग के लिए स्थान बताया है कि 'जो सब प्रकार से समतल, पवित्र, बालू आदि से रहित तथा शब्द, जल और आश्रय की

दृष्टि से मनोनुकूल हो, जहाँ आँखों को पीड़ा न पहुँचे, वायु के झोंके न लगें, ऐसे एकान्त गुहा आदि स्थान में बैठकर योगाभ्यास करे।' इसमें स्थान विशेष का निर्देश नहीं दिया है, किन्तु साधक की सुविधा का ध्यान रखते हुए 'मनोनुकूले' कह कर उसी की इच्छा पर छोड़ दिया है। परन्तु ऐसा स्थान अवश्य हो जहाँ एकाग्रता बनी रहे।

आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—आप्रायणात्=मरण पर्यन्त, (ध्यान और उपासना की आवृत्ति करता रहे), हि=क्योंकि, तत्रापि=मरते समय तक, दृष्टम्=इसका विधान देखा जाता है।

व्याख्या—साधक जब तक जीवित रहे, तब तक उपासना का अभ्यास करता रहे। "स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुष ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।" अर्थात् 'वह इस प्रकार आयु पर्यन्त उपासना में लगा रह कर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और निश्चय ही वहाँ से लौट कर नहीं आता।' मरणकाल तक चिन्तनादि करने का एक स्पष्टीकरण गीता (८-६) में कहा है कि 'अन्तकाल में जिस-जिस भाव का स्मरण करता हुआ देह त्याग करता है, उस-उस को ही प्राप्त होता है। यदि मरण काल में विषय-भावना रही तो उसी भावना के अनुसार देह की प्राप्ति संभव है। सौपर्ण श्रुति में "सर्वदैनमुपासीत यावद् विमुक्तिः" 'मुक्ति होने तक उपासना' करने का उपदेश है। इस प्रकाक मरण-काल तक उपासना साधक का कर्त्तव्य सिद्ध हुआ।

तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ- तदधिगमे=उस उपासना के फलवती होने पर, उत्तर पूर्वाघयोः=पहिले-पिछले पापों का, अश्लेषविनाशौ=विलगाव और विनाश होता है, क्योंकि, तद्व्यपदेशात्=श्रुति में ऐसा ही उपदेश है।

व्याख्या—श्रुति में ऐसा कहा गया है कि उपासना का फल प्राप्त हो जाने पर पहिले या पिछले किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं। छान्दोग्य (५-२४-३) "तद्यथा इषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवं ह अस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" के अनुसार 'मूंज का तिनका अग्नि में डालते ही भस्म हो जाने के समान ब्रह्मज्ञानी के भी सब पाप नष्ट हो जाना' सिद्ध होता है। छान्दोग्य में ही सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्य उपकोशल से "यथा पुष्कर पलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" कह कर, कमल-पत्र पर जल न ठहरने के समान, ब्रह्म विद्या को जान लेने पर पापों का लिप्त न हो सकना, सिद्ध किया है।

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—इतरस्य=पुण्यों का, अपि=भी, एवम्=पापों के समान ही, असंश्लेषः=बिलगाव होता है, पाते=देहपात होने पर, तु=तो (कोई भाव नहीं रहता)।

व्याख्या—जैसे उपासना का फल मिलने पर पाप का क्षय होता है, वैसे ही पुण्यों का क्षय हो जाना कहा है। गीता (४-३७) "यथैधांसि समिद्धोऽग्निः" इत्यादि के अनुसार 'प्रज्ज्वलित अग्नि के द्वारा ईंधन को भस्म कर देने के समान, ज्ञानाग्नि द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का भस्म हो जाना' कहा गया है। "सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्ते" इत्यादि छान्दोग्य श्रुति ने पुण्य-कर्म को भी पापों के अन्तर्गत माना है, क्योंकि पुण्य का फल स्वर्गादि की प्राप्ति मानी गई है, और स्वर्गादि की प्राप्ति भोग-रूप होने से मोक्ष में विघ्न स्वरूप है। इससे सिद्ध होता है कि पाप-पुण्य दोनों का क्षय होने से ही मोक्ष-प्राप्ति संभव है।

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—तु=परंतु, अनारब्धकार्ये=जिनका भोग-रूप फल प्रारंभ नहीं हुआ है, ऐसे, पूर्वे=पहिले किए हुए पाप-पुण्य दोनों,

एव=ही मिटते हैं, क्योंकि, तदवधेः= तद्+अवधेः) मरण
पर्यन्त उनकी अवधि कही गई है।

व्याख्या—जिन कर्मों का फल प्रारम्भ हो जाता है, वे तो भोग
से ही नष्ट होते हैं, किन्तु, जिन कर्मों का फल मिलना प्रारम्भ नहीं हुआ
उन्हीं का क्षय होता है। इसका कारण यह है कि श्रुति में "तस्य ता
देव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" अर्थात् 'अनुष्ठाता को तभी तक
देर है, जब तक प्रारब्ध का नाश होकर देह नहीं छूट जाता, (उसके
छूटने पर तो) मुक्त हो ही जाता है।' इससे सिद्ध हुआ कि देह के साथ
प्रारब्ध है और प्रारब्ध के नष्ट होने के साथ ही शरीर का नाश होता है

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—अग्निहोत्रादि=अग्निहोत्र आदि कर्म, तु=तो
तत्कार्याय=विहित कर्मों की रक्षा के लिए, एव=ही, किये जाते
हैं, तद्दर्शनात्=ऐसा ही विधान देखा गया है।

व्याख्या—अग्निहोत्र आदि यह नित्य कर्म हैं। इन कर्मों का नष्ट
होना नहीं कहा है, क्योंकि नित्य कर्म करने का उद्देश्य विद्यारूप फल
कार्यों की रक्षा के लिए है। इसलिए इन कर्मों के त्याग का उपदेश नहीं है

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—अतः=विद्या के लिए किए जाने वाले इन कर्मों
से, अन्यापि=भिन्न कर्म भी, उभयोः=ज्ञानी और साधक दोनों
प्रकार के उपासकों के लिए, हि=ही, एकेषाम्=एक शाखा
वालों के मत में ठीक है।

व्याख्या—अग्निहोत्र आदि कर्म विद्या के सहायक रूप हैं ही,
उनसे भिन्न जो श्रेष्ठ कर्म हैं, वे भी ब्रह्मवेत्ता और अन्य प्रकार के साधकों
को करने चाहिए—ऐसा एक शाखा वाले विद्वान् मानते हैं। ईशावास्य
श्रुति के अनुसार 'कर्म और ज्ञान को साथ-साथ जानने वाला, कर्मों द्वारा
मृत्यु को पार कर अमृत को प्राप्त होता है।

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—यत्र=जो, एव=भी (कर्म), विद्यया=ज्ञान के सहित किया जाता है, इति=वही (श्रेष्ठ है)।

व्याख्या—"यदेव विद्यया करोति" इत्यादि श्रुति के अनुसार 'जो विद्या के द्वारा किया जाता है, वह अत्यन्त बलवान् कर्म होता है' इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान के बिना कर्म का कोई महत्त्व नहीं, हाँ, ज्ञान के सहित किये जाने वाले कर्म का श्रेष्ठत्व स्वीकार करना अनुचित नहीं है।

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—इतरे=प्रारब्ध फल वाले शुभ-अशुभ कर्मों को, तु=तो, भोगेन=भोग से, क्षपयित्वा=नष्ट कर, सम्पद्यते=ब्रह्म को प्राप्त होता है।

व्याख्या—जिन पुण्य-पाप रूप कर्मों का फल प्रारम्भ हो गया है, उन्हें तो भोगना ही होगा। ब्रह्म की प्राप्ति उन भोगों को भोगने पर ही हो सकती है। जब तक उन कर्मों का फल भोग कर उन्हें नष्ट नहीं कर दिया जाता, तब तक मोक्ष संभव नहीं है।

॥ प्रथमः पादः सम्पूर्णम् ॥

द्वितीयः पादः

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—वाक्=वाणी, मनसि=मनकी वृत्त में निहित होती है, दर्शनात्=देखनेसे, च=और, शब्दात्=श्रुति-वाक्यों से ऐसा प्रतीत होता है।

व्याख्या—वाणी का मन में समा जाना श्रुति ने भी कहा है, जैसे—"अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" अर्थात् 'जब यह मनुष्य मरने लगता है

तब वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज ब्रह्म में लीन होता है।' यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मरते हुए मनुष्य का मन रहते हुए भी वाणी का कार्य (बोलना) बन्द हो जाता है।

अत एव च सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—च=और, अतएव=इस प्रकार, अनु=उसके साथ ही, सर्वाणि=सब इन्द्रियां मन में लीन होती हैं।

व्याख्या—वाणी के लीन हो जाने के बाद अन्य सभी इन्द्रियाँ मन में ही चली जाती हैं। इस प्रकार दर्शन, श्रवण, रसना इत्यादि सभी वृत्तियाँ, मन की वृत्तियों में लीन हो जाती हैं।

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—तत्=इन्द्रियों सहित वह, मनः=मन, प्राणे=प्राण में मिलता है, उत्तरात्=बाद के कथन से यह सिद्ध है।

व्याख्या—मन प्राण के साथ मिल जाता है यह श्रुति में आए हुए 'मनः प्राणे' वाक्य से सिद्ध होता है।

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—तदुपगमादिभ्यः=उस जीव के उपगम्, उत्क्रांति और प्रतिष्ठा के वर्णन से स्पष्ट है कि, सः=वह मन से युक्त प्राण, अध्यक्षे=अपने अधिपति जीव में स्थित होता है।

व्याख्या—बृहदारण्यक (४-३-३८) "इममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति" से 'अन्तिम काल में सब प्राण सब ओर से उपगम करते—समा जाते हैं' और (बृ० ४-४-२) के अनुसार "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" उस जीव के उत्क्रमण के साथ प्राण भी उत्क्रमण करता है, और "कस्मिन्नहमुत्क्रान्त" इत्यादि प्रश्नोपनिषद् श्रुति के अनुसार 'मन आदि से युक्त प्राणकी जीव के साथ प्रतिष्ठा होगी।' इससे सिद्ध होता है कि मन आदि सहित प्राण जीव में स्थित हो जाता है।

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—भूतेषु=प्राणादि से युक्त जीव भूतों में स्थित होता है, तच्छ्रुतेः=इस प्रकार सुना जाता है।

व्याख्या—जीवात्मा मरणोपरान्त पंचभूतों में स्थित होता है। इसका प्रमाण यह है कि वृहदारण्यक (४-४-५) में जीवात्मा को पृथिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय और तेजोमय कहा है।

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—एकस्मिन्=अकेले तेज में, हि=ही, न=नहीं, क्योंकि, दर्शयतः=ऐसा ही देखा जाता है।

व्याख्या—'प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्' श्रुति वाक्य से 'मरने पर तेज में मिलना' कहा गया है- यह शङ्का होने पर कहते हैं कि ऐसी बात नहीं समझनी चाहिए, 'तेज' शब्द से यहाँ पंच भूतों का ही ग्रहण है, क्योंकि जीवात्मा को "पृथिवीमय आपोमय" आदि कह कर पाँचों तत्वों से युक्त बताया गया है।

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ– आसृत्युपक्रमात्=गमन के उपक्रम पर्यन्त, समाना=ज्ञानी और कर्मी दोनों की गति एक-सी है, च=क्योंकि, अनुपोष्य=शरीर के द्वारा, च=ही, अमृतत्वम्=मोक्ष-लाभ होना बताया है।

व्याख्या—मोक्ष-प्राप्ति के अधिकारी ज्ञानी और अन्य जन्म-ग्रहण करने के अधिकारी कर्मवान् पुरुष की देह त्याग कर सूक्ष्म शरीर में जाने तक की गति एक-सी ही है, क्योंकि ब्रह्मलोक में जाने के लिए भी सूक्ष्म शरीर की आवश्यकता है और अन्य लोकों या दूसरे जन्म में जाना भी सूक्ष्म शरीर से ही होता है।

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ।। ८ ।।

सूत्रार्थ—संसारव्यपदेशात्=जन्म-मरण का वर्णन होने से यह प्रतीत होता है कि, तत्=उसका वह शरीर, आ अपीतेः= ब्रह्म प्राप्ति तक रहता है।

व्याख्या—ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए देवयान मार्ग से जाना प्रसिद्ध है। जब तक ब्रह्म से साक्षात्कार नहीं होता, तब तक तो शरीर-सम्बन्ध रहेगा ही—जीवित अवस्था में स्थूल शरीर और मरने पर सूक्ष्म शरीर। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि जिसका स्थूल शरीर से सम्बन्ध नहीं छूटा अर्थात् जिसे जन्म-मरण के चक्कर में रहना ही पड़ रहा है, उसका पाप से रहित हो जाना ही अमृतत्व है। जब वह पाप से छूट जायगा, तब उसे पुनर्जन्म ग्रहण करने की आवश्यकता ही न रहेगी।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ।। ९ ।।

सूत्रार्थ—प्रमाणतः=श्रुति-प्रमाण से, च=और, तथोपलब्धेः=वैसी उपलब्धि से, सूक्ष्मम्=भूतों का सूक्ष्म होना सिद्ध है।

व्याख्या—ब्रह्मज्ञानी मरण काल के पश्चात् ब्रह्मलोक गमन करता है तब जिस भूत-समुदाय में स्थित होता है, वह भूत-समुदाय स्थूल नहीं है। उसका सूक्ष्म होना श्रुति-प्रमाण से सिद्ध है। छान्दोग्य में जिन सौ नाड़ियों का वर्णन किया है, उनमें से एक मूर्धन्य नाड़ी से उत्क्रान्त होने वाले आत्मा को अमृतत्व की प्राप्ति कही है, अन्य नाड़ियों को विभिन्न योनियों में पहुँचाने वाली कहा है। इन नाड़ियों से निकलने वाला आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, इससे भी उसका सूक्ष्म होना सिद्ध होता है।

नोपमर्देनातः ।। १० ।।

सूत्रार्थ—अतः=यह भूत सूक्ष्म होता है, इसलिए, उप-

मर्दन = (जलाने, तोड़ने,फोड़ने आदि) उपपीड़न से, न=नष्ट नहीं होता।

व्याख्या - जिन पंचभूत रूप सूक्ष्म शरीर में यह जीव मरण काल में स्थित होता है, वह स्थूल शरीर के समान जलता, टूटता, फूटता नहीं। इसी सूक्ष्म शरीर में स्थित हो कर जीवात्मा स्थूल शरीर को छोड़ देता है।

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—एषः=यह, अस्य=इस सूक्ष्म शरीर की, एव= ही, ऊष्मा=गरमी है, च=और, उपपत्तेः=युक्ति से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—जब तक स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर अवस्थित रहता है, तभी तक उसमें गरमी रहती है, प्राणान्त होने पर—सूक्ष्म शरीर के निकलते ही स्थूल शरीर ठण्डा हो जाता है, यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है।

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, प्रतिषेधात्=उत्क्रमण का प्रतिषेध होने से गमन नहीं होता, तो, इति न=ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, शारीरात्=जीव का प्राणों से पृथक् होने का निषेध कहा गया है।

व्याख्या—यह शङ्का की जाय कि बृहदारण्यक श्रुति "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" (४-४-६) के अनुसार 'कल्पना रहित, निष्काम, पूर्णकाम और ब्रह्म की ही इच्छा करने वाले के प्राण उत्क्रमण नहीं करते' इससे ब्रह्मलोक गमन सिद्ध नहीं होता, तो यह शङ्का निर्मूल है, क्योंकि यहाँ जीव से प्राणों के पृथक होने का निषेध किया गया है, शरीर से प्रथक होने का निषेध नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि जीव प्राणों के सहित ब्रह्मलोक गमन करता है।

स्पष्टो ह्येकेषाम् ।। १३ ।।

सूत्रार्थ—एकेषाम्=एक शाखा वालों के यहाँ, स्पष्टः= शरीर से प्राणों के न निकलने की बात स्पष्ट रूप से कही गई है, इसलिए, हि=ही (उसका गमन सिद्ध नहीं होता)।

व्याख्या—वृहदारण्यक में "यत्राऽयं पुरुषो" इत्यादि में 'मरने वाले पुरुष के प्राण पृथक् होते या नहीं ? इस प्रश्न का "नेति होवाच याज्ञवल्क्यः" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि 'नहीं' । इसका तात्पर्य यह है कि मोक्ष के अधिकारी के प्राणोत्क्रमण का नियम नहीं है । वह यहीं ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार के अनेक प्रमाण श्रुति-सिद्ध हैं ।

स्मर्यते च ।। १४ ।।

सूत्रार्थ—च=और, स्मर्यते=स्मृति भी यही कहती है।

व्याख्या—स्मृति प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मवेत्ता को इस जीवन में ही परमात्मा की प्राप्ति सम्भव है। गीता में भी "कामक्रोध वियुक्तानाम्" इत्यादि (५-२६) में कहा है कि 'काम क्रोध से रहित, जीते हुए चित्त वाले, ब्रह्म के साक्षात्कार किए हुए ज्ञानी पुरुष के लिए सब ओर से शान्त परम ब्रह्म ही प्राप्त है ।'

तानि परे तथा ह्याह ।। १४ ।।

सूत्रार्थ—तानि=जीव से सब सूक्ष्म भूत, परे=परब्रह्म में लीन होते हैं, हि=क्योंकि, तथा=ऐसा, आह=कहा गया है।

व्याख्या—"काम क्रोध वियुक्तानाम्" इत्यादि उपरोक्त प्रकार से जिन महात्माओं को जीवन काल में ही ब्रह्म-साक्षात्कार कहा है, वह सदा परमात्मा में स्थित रहते हैं। वह प्रारब्ध पूरा होने पर जब देह त्याग करते हैं, तब उसके प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ आदि सभी उस ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

अविभागो वचनात् ।। १६ ।।

सूत्रार्थ—अविभागः=विभाग न रहना भी, वचनात्=श्रुति वाक्यों से सिद्ध होता है।

व्याख्या—प्रश्नोपनिषद् (६-५) में "भिद्यते तासां नाम रूपे" के अनुसार प्राणादि के नाम रूप मिट जाते हैं। इसी प्रकार के प्रमाण अन्य श्रुतियों में भी मिलते हैं, जिनसे विभाग रहित होकर ब्रह्म में मिलना सिद्ध होता है।

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।। १७ ।।

सूत्रार्थ—तदोकोऽग्रज्वलनम्=उस मरणासन्न जीव के हृदय का अग्रभाग प्रकाशित होता है, तत्प्रकाशितद्वारः=उस प्रकाश से जिसका द्वार प्रकाशित हो गया, ऐसा वह, विद्यासामर्थ्यात्=ब्रह्म-विद्या की शक्ति से, च=और, तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात=विद्या का अङ्ग रूप मार्ग की गति विषयक अनुस्मृति की संगति से, हार्दानुगृहीतः=हृदयस्थ ब्रह्म से अनुगृहीत होकर, शताधिकया=सौ से भी ऊपर जो (मूर्धन्य) नाड़ी है, उससे गमन करता है।

व्याख्या—बृहदारण्यक (४-४-२) "तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति" के अनुसार मरण काल में जीव के हृदय का अग्रभाग प्रकाशित होने से आत्मा के निकलने की बात कही गई है। तथा ब्रह्मज्ञानी और साधारण पुरुष के प्राण निकलने का पृथक्-पृथक् मार्ग छान्दोग्य में "शतं चैका च हृदयस्य" इत्यादि श्रुति के द्वारा बताया गया है। उसमें कहा है कि 'हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमें से एक मूर्धा की ओर निकली है, उसके द्वारा ऊपर

की ओर जाने वाला अमृतत्व को प्राप्त होता है, अन्य नाड़ियाँ उत्क्रमण के समय तिरछी हो जाती हैं अर्थात् वे नाड़ियाँ इधर-उधर के मार्ग से ले जाती हुई विभिन्न योनियों की प्राप्ति कराती हैं।

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—रश्म्यनुसारी=सूर्य की किरणों के अवलम्ब से गमन करता है।

व्याख्या—मूर्धन्य नाड़ी से निकला हुआ जीवात्मा सूर्य की किरणों द्वारा ऊपर चढ़ता और मन की गति से हीं सूर्यलोक में पहुँच जाता है। छान्दोग्य के अनुसार ज्ञानियों के लिए सूर्य ही ब्रह्मलोक में जाने का द्वार है। अज्ञानियों के लिए यह द्वार बन्द रहता है और वे अधम गति को प्राप्त होते हैं।

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वा-द्दर्शयति च ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—चेत् = यदि कहो कि, निशि=रात्रि में, न=सूर्य की किरणें नहीं होतीं, इति न=इस प्रकार कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, सम्बन्धस्य=कर्म-सम्बन्ध का, यावद्देहभावित्वात= जब तक देह रहता है, तब तक अस्तित्व बना रहता है, हि= यही, दर्शयति च=देखा भी जाता है।

व्याख्या—यदि यह कहो कि रात्रि में तो सूर्य की किरणें होती नहीं, फिर रात्रि में जो मरते हैं उनको ब्रह्म-प्राप्ति नहीं होती होगी? तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि छान्दोग्य (८-६-२) के अनुसार 'सूर्य लोक से निकलती हुई रश्मियाँ मनुष्य देह की नाड़ियों में भी व्याप्त हैं और नाड़ियों से निकलती हुई सूर्य लोक तक फैली हैं। इससे सिद्ध होता है कि सूर्य-रश्मियों ने मनुष्य शरीर की नाड़ियों और सूर्यलोक में

निरन्तर सम्पर्क बना रखा है। इस प्रकार किसी समय भी मृत्यु होने पर सूर्यलोक में ज्ञानी का जाना अतर्क्य प्रतीत होता है।

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—अतः=इस कारण, च=ही, दक्षिणे=अयने=अयन में, अपि=भी (कोई बाधा नहीं है)

व्याख्या—उपरोक्त कारण से सूर्य के दक्षिणायन काल में भी ब्रह्मज्ञानी को सूर्यलोक के मार्ग से जाने में कोई रुकावट नहीं आती।

योगिनः प्रति च समर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—च=और, योगिनः=योगी के, प्रति=लिए, स्मर्यते=स्मृति में कहा है, च=और, एते=यह दोनों गतियाँ, स्मार्ते=स्मृति-सम्मत हैं।

व्याख्या—स्मृति आदि में देवयान मार्ग और पितृयान मार्ग रूप दो गतियाँ कही गई हैं। उनका सम्बन्ध उत्तरायण और दक्षिणायन से है। भीष्म के उत्तरायण काल की प्रतीक्षा का वर्णन महाभारत में मिलता है। भीष्म ने अपने योग-बल से दक्षिणायन काल में प्राणों को रोके रखा। परन्तु, ब्रह्मज्ञान की महिमा तो बहुत प्रबल है, उसके साधक को दक्षिणायन काल अथवा कृष्णपक्ष ब्रह्मलोक प्राप्ति में विघ्न उपस्थित नहीं कर सकते। भीष्म पितामह का वर्णन तो उनके लिए समझना चाहिए जो उत्तरयण ।दक्षिणायन आदि काल-विशेष को महत्व देते हैं।

॥ द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

तृतीयः पादः

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—अर्चिरादिना=अर्चि आदि मार्ग से जाते हैं, क्योंकि, तत्प्रथितेः=उनके लिए वही एक मार्ग प्रसिद्ध है।

व्याख्या—ब्रह्म-ज्ञानियों के लिए ब्रह्मलोक गमन के लिए विभिन्न नामों से कहा गया एक अर्चि आदि मार्ग है। इसी मार्ग को देवयान मार्ग और उत्तरायण मार्ग कहा गया है। इसके विषय में छांदोग्य में "अथ यदु चैवास्मिन् शब्दं कुर्वन्ति" (४-१५-५) के अनुसार 'पुत्रादि दाह कर्म करें या न करें, ब्रह्म-ज्ञानी अर्चिरादि मार्ग से ही जाते हैं।' बृहदारण्यक (६-२-१५) के अनुसार "जो ब्रह्मज्ञानी पंचाग्नि विद्या को जानते हैं या जो वन में निवासपूर्वक श्रद्धा सहित उस सत्य ब्रह्म की जीव में उपासना करते हैं, ऐसे दोनों प्रकार के ब्रह्मज्ञानी "तेऽर्चिरभि-संभवन्ति" अर्चि के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। कौषीतकि० (१-३) "स एतं देवयानं पन्थानमासाद्य अग्निलोकमागच्छति" के अनुसार 'ब्रह्मज्ञानी देवयान मार्ग से होकर अग्निलोक को जाता है।' बृहदारण्यक (५-१०-१) में ब्रह्म-ज्ञानी के सूर्यलोक होकर ब्रह्मलोक-प्राप्ति का वर्णन इस प्रकार मिलता है कि वह इस लोक से उत्क्रमणकर वायु को प्राप्त होती है, वायु अपने देह में रथचक्र के छेद के समान छेद करता है, जिसमें से निकल कर वह सूर्य को प्राप्त होता है। सूर्य भी अपने में छेद कर उसे निकलने देता है, तब वह चन्द्रमा पर पहुँचता है, चन्द्रमा अपने में छेद करता है, उसमें से निकल कर वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। इन सब प्रमाणों से ब्रह्मज्ञानी का अर्चिरादि मार्ग से गमन सिद्ध होता है।

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—वायुम=वायु को, अब्दात्=संवत्सर से (प्राप्त

होता है) क्योंकि, अविशेषविशेषाभ्याम्=सामान्य भाव और विशेष रूप दोनों प्रकार से इसका वर्णन हुआ है।

व्याख्या—बृहदारण्यक (५-१०-१) में "स वायुमागच्छति" से वायुलोक में जाने का विशेष वर्णन हुआ प्रतीत होता है। कौषीतकि (१-३) में "स वायुलोकम्" कह कर 'देवयान मार्ग से अग्निलोक में, फिर वायुलोक में, फिर सूर्य, वरुण, इन्द्र, प्रजापति के लोकों में होते हुए ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही है।' इसमें सामान्य प्रकार से वायुलोक का वर्णन हुआ है, विशिष्ट क्रम नहीं कहा। परन्तु, छांदोग्य में "मासेभ्यः संवत्सरं, संवत्सरादादित्यम्" अर्थात् "महीनोंसे संवत्सरको और संवत्सर से आदित्य को' प्राप्त होना कहा है, इस श्रुति में वायुलोक की प्राप्ति का वर्णन नहीं है और बृहदारण्यक में सूर्यलोक की प्राप्ति से पहिले वायुलोक की प्राप्ति कही है, इससे सिद्ध होता है कि संवत्सर के पश्चात् और सूयलोक से पहिले वायुलोक की प्राप्ति होती है।

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ।। ३ ।।

सूत्रार्थ—तडितः=विद्युत से, अधि=ऊपर, वरुणः=वरुण लोक है, क्योंकि, सम्बन्धात्=उन दोनों का पूर्वापर सम्बन्ध है।

व्याख्या—छान्दोग्य (४-१५-५) "आदित्याच्चन्द्रमसं, चन्द्रमसोविद्युतम्" के अनुसार 'आदित्य से चन्द्रमा और चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होना कहा है। विद्युत से वरुण का पूर्वापर सम्बन्ध है, क्योंकि वरुण जल का स्वामी है और विद्युत का जल से घनिष्ट सम्बन्ध है—जल से विद्युत और विद्युत से जल की उत्पत्ति प्रसिद्ध है ही। जब विद्युत घोर गर्जन कर जल का मन्थन करती है, तब वर्षा होती है और वर्षा के जल का स्वामी वरुण होने से भी विद्युत और वरुण का घनिष्ट सम्बन्ध सिद्ध हुआ और इस प्रकार विद्युत लोक के ऊपर वरुण लोक का होना युक्तिसङ्गत है।

आतिवाहिकास्तल्लिंगात् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—आतिवाहिकाः=साधक को विभिन्न लोकों की प्राप्ति कराने वाले उन-उन लोकों के साधन हैं, तल्लिंगात्=श्रुति में ऐसे लक्षण पाये जाते हैं।

व्याख्या—छान्दोग्य में "चन्द्रमसोविद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति" के अनुसार कहा है कि 'चन्द्रमा से विद्युत आदि से ब्रह्म-प्राप्ति कराने वाला अमानव (मनुष्य से परे) पुरुष है।' इसीलिए ऐसे पुरुष को आतिवाहक कहा गया है और 'गमयति' से प्राप्त कराता या चलाता समझना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि अर्चिरादि से गमन कराने वाले उनके अभिमानी देवता हैं, जो उत्क्रमण करते हुए ज्ञानी की गति में सहायता देते हैं।

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—उभयव्यामोहात्=आतिवाहक और मुमुक्षु, दोनों के मोहयुक्त होने से, तत्सिद्धेः=आतिवाहक को अभिमानी देवता मानना ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—यदि आतिवाहक को अभिमानी देवता न मान कर ज्योति आदि जड़ पदार्थ मान लें तो दोनों का ही मोहयुक्त होना बनने से, ब्रह्मलोक के मार्ग का ज्ञान न हो सकेगा, क्योंकि जब तक सूक्ष्म देह रहता है, तब तक व्यामोह अर्थात् मूर्छित अवस्था रहती है। इससे यही सिद्ध होता है कि आतिवाहक से तात्पर्य अभिमानी देवता से ही है।

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—ततः=वहाँ से, विद्युतेन=विद्युत्-सम्बन्धी अमानव पुरुष के द्वारा, एव=ही, (ब्रह्म लोक गमन होता है), तच्छ्रुतेः=ऐसा सुना जाता है।

व्याख्या—श्रुति में स्पष्ट कहा गया है कि "चन्द्रमसो वैद्युतं

तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति'' अर्थात् 'चन्द्रलोक से चल कर विद्युत लोक को पहुँचने पर वहाँ अमानव पुरुष इनको ब्रह्म की प्राप्ति कराता है।' इससे सिद्ध होता है कि विद्युत् लोक से आगे ब्रह्मलोक तक वही अमानव पुरुष ज्ञानी को पहुँचाता है।

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—बादरि=आचार्य बादरि की मान्यता है कि, कार्यम्=कार्य-ब्रह्म हिरण्यगर्भ को प्राप्त कराते हैं, क्योंकि, गत्युपपत्तेः=जाने का वर्णन, अस्य=इस हिरण्यगर्भ के लिए ही है।

व्याख्या—अर्चिरादि आतिवाहक ज्ञानी को कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ के लोक को ही प्राप्त कराते हैं, परब्रह्म को नहीं, क्योंकि लोकान्तर गमन की ब्रह्म-प्राप्ति के लिए कोई आवश्यकता नहीं है, ब्रह्म तो सर्वत्र है, उनके उपासकों को कहीं जाना श्रेयस्कर नहीं है, वह तो अज्ञान के नष्ट होते ही मिल जाते हैं। ऐसा आचार्य बादरि का मत है।

विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—च=और, विशेषितत्वात्=विशेषण देकर स्पष्ट करने से भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—अमानव पुरुष द्वारा ब्रह्मलोक में ले जाने वाले वर्णन में 'एनान्' शब्द से इनको ब्रह्मलोक में ले जाना कहा है। इससे कार्य-ब्रह्म की प्राप्ति होना ही सिद्ध होता है और बहुवचन का विशेषण कर देने से यही युक्तिसङ्गत है।

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—तद्व्यपदेशः=इस प्रकार कहना, तु=तो, सामीप्यात्=ब्रह्म की समीपता से भी हो सकता है।

व्याख्या— ऊपर विशेषण सहित स्पष्ट करने की जो बात कही है, उसमें ब्रह्म के समीपस्थ ब्रह्मा का कथन भी हो सकता है। क्योंकि "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्" 'जिसने सर्व प्रथम् ब्रह्मा को रचा' इससे ब्रह्मा ही ब्रह्म का निकटस्थ सिद्ध हुआ, इस प्रकार ब्रह्मा को ब्रह्म और उसके लोक को ही ब्रह्मलोक कह देना सम्भव है।

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ १० ॥

सूत्रार्थ— कार्य=कार्य रूप ब्रह्मलोक के, अत्यये=नष्ट होने पर, तदध्यक्षेण=उसके अधिपति ब्रह्मा के, सह=सहित, अतः= इससे पीछे, परम्=परब्रह्म को, अभिधानात्=प्राप्त होना कहा है।

व्याख्या—श्रुति में कहा है—"ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे" अर्थात् 'ये सब ब्रह्मलोक में जाकर अन्त-काल में मुक्त होकर परम अमृत रूप होते है' इससे सिद्ध हुआ कि प्रलय-काल में कार्य-ब्रह्म के लोक का नाश होने पर उसके अधिपति कार्य-ब्रह्म के सहित जाकर परब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—च=और, स्मृते=स्मृति में भी यही देखा जाता है।

व्याख्या—"ब्रह्मणा सह ते सर्वे" इत्यादि में कहा है कि 'प्रलय-काल उपस्थित होने पर वे सब ब्रह्मा के सहित परम पद को प्राप्त होते हैं, इससे भी उपरोक्त मान्यता ठीक समझनी चाहिए।

परंजैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ – जैमिनिः=आचार्य जैमिनि का मत है कि, मुख्य-

त्वात्=ब्रह्म शब्द परब्रह्म में मुख्य रूप से होने के कारण, परम्=परब्रह्म की प्राप्ति होना ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—छान्दोग्य में जो 'अमानवीय पुरुष इनको ब्रह्म के पास पहुँचाता है' इसमें 'ब्रह्म' शब्द मुख्य रूप से परब्रह्म के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, कार्य-ब्रह्म के लिए नहीं। यह आचार्य जैमिनि का भी मत है।

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—च=और, दर्शनात्=श्रुति में ऐसा ही देखा जाता है।

व्याख्या—श्रुतियों में भी उपरोक्त युक्तियों को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय" इत्यादि छान्दोग्य श्रुति के अनुसार सुषुप्ति स्थान में उठने वाला जीव इस शरीर का त्याग कर ब्रह्म को प्राप्त होता या अपने रूप से अभिनिष्पन्न होता है। इस श्रुति से अर्चिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का स्पष्ट वर्णन है।

न च कार्य्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—च=तथा, प्रतिपत्त्यभिसन्धिः=प्राप्त होने का सङ्कल्प, कार्ये=कार्य-ब्रह्म के लिए, न=नहीं है।

व्याख्या—छान्दोग्य में "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये" 'प्रजापति के सभागृह को प्राप्त होते हैं' इसका तात्पर्य साधक का प्रजापति के लोक में रहना नहीं, ब्रह्मलोक को जाना ही है, क्योंकि वहां महायश के वर्णन से ब्रह्म का ही वर्णन समझना चाहिए। क्योंकि "अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्" के अनुसार जैसे अश्व अपने रोमों को खड़ा करके शरीर की धूल आदि झाड़ देता है, वैसे अपने शरीर से पापों को झाड़ कर राहु से ग्रसे हुए चन्द्रमा के समान मुक्त हो, शरीर त्याग कर ब्रह्म लोक प्राप्ति की कामना कार्य-ब्रह्म की प्राप्ति के लिए नहीं हो सकती।

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा-दोषात्तत्क्रतुश्च ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—अप्रतीकालम्बनान्=प्रतीक की उपासना करने वालों से भिन्न उपासकों को, नयति=आतिवाहक गण ले जाते हैं, उभयथा=दोनों प्रकार की मान्यता में, अदोषात्=दोष न होने से, तत्क्रतुः=उनके सङ्कल्प रूप ब्रह्म को, च=और कार्य-ब्रह्म को प्राप्त होना, इति=ऐसा, बादरायणः=बादरायणाचार्य मानते हैं।

व्याख्या—बादरायणाचार्य का मत है कि जिन प्रतीक-उपासनाओं का श्रुति में वर्णन है, उनसे भिन्न उपासना वाले जो सर्वज्ञ ब्रह्म के उपासक हैं, उन दोनों प्रकार के उपासकों के सङ्कल्पों के अनुसार वे आतिवाहक गण परब्रह्म अथवा कार्य-ब्रह्म को प्राप्त करा देते हैं। उपासकों का सङ्कल्प इस प्राप्ति में विशेष महत्व रखता है, इसलिए इन दोनों प्रकार की मान्यताओं में कोई दोष नहीं है और परब्रह्म के परमधाम में जाने का मार्ग भी प्रजापति ब्रह्मा के लोक में होकर ही गया है। इसलिए दोनों प्रकार के साधकों का ब्रह्मा के लोक में पहुँचना तो निश्चित ही है, फिर जिनके साधना-सङ्कल्प ब्रह्म-प्राप्ति के हैं, उनको ब्रह्म-धाम में पहुँचा देना भी युक्ति-सङ्गत ही है।

विशेषं च दर्शयति ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—च=और श्रुति इसका, विशेषं=विशेष कारण, दर्शयति=दिखाती है।

व्याख्या—विभिन्न उपासनाओं के फलों की विभिन्नता श्रुतियों में स्पष्ट वर्णन की गई है और साधक की गति उसके सङ्कल्प के अनुसार होनी कही गई हैं। छान्दोग्य में सनत्कुमार ने वाणी से मन को श्रेष्ठ कहा और मन से सङ्कल्प को, इसी प्रकार चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल,

अन्न, जल इत्यादि का वर्णन करते हुए अन्त में कहा कि 'योवै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः'' अर्थात् 'जो भूमा है वही सुख है, अल्प पदार्थ में सुख नहीं है, भूमा सुख रूप है, भूमा ही जानने योग्य है।' इस प्रकार ब्रह्म ही जानने योग्य है, जो ब्रह्म को जान लेते हैं वही मुक्त कहलाते हैं।

॥ तृतीयः पादः सम्पूर्णम् ॥

चतुर्थः पादः

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—सम्पद्य=परमपद प्राप्त करके, स्वेन=अपने रूप में, आविर्भावः=जीव का आविर्भाव होना, शब्दात्=श्रुतियों में कहा है।

व्याख्या—श्रुतियों ने कहा है कि परमपद प्राप्त होने पर ही ज्ञानी का अपना यथार्थ रूप प्रकट होता है। "परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते"। इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष की अवस्था में जीव का शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप ब्रह्म में विलीन नहीं होता, बना रहता है।

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—प्रतिज्ञानात्=प्रतिज्ञा की जाने से, मुक्तः=उस स्वरूप का बन्धनों से मुक्त होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—श्रुति में अनेक स्थलों पर जीव के बन्धनमुक्त होने का वर्णन हुआ है। छान्दोग्य (८।१२।१) में "अशरीरं वावसन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः" 'शरीर से मुक्त हुए को सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते'

अथवा "य आत्माऽपहतपाप्मा" से आत्मा को पाप-रहित कहा है। इस प्रकार उसका सब बन्धनों से मुक्त होना सिद्ध होता है।

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ=प्रकरणात्=प्रकरण से, आत्मा=आत्मा का विशुद्धात्मा होना ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—आत्मा बन्धन रहित होकर विशुद्ध दिव्य रूप में हो जाता है, यह प्रकरण प्रसङ्ग आदि से भी स्पष्ट है।

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—अविभागेन=मोक्ष-प्राप्त जीव की ब्रह्म में स्थित अविभक्त रूप से होती है, ऐसा ही, दृष्टत्वात्=वर्णन से देखा जाता है।

व्याख्या—कठोपनिषद् (२।१।१५) के अनुसार शुद्ध जल में शुद्ध जल मिलाने से एक रूप ही रहता है, उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में मिल कर वैसा ही हो जाता है। इस वर्णन से ब्रह्म में ब्रह्मवेत्ता की अविभक्त स्थित रहने की सिद्धि होती है।

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—जैमिनिः=आचार्य जैमिनि का मत है कि,ब्राह्मेण =ब्रह्म के समान रूप से सम्पन्न होता है, क्योंकि, उपन्यासादिभ्यः =श्रुति, में ऐसा ही वर्णन मिलता है।

व्याख्या—आचार्य जैमिनि ब्रह्मज्ञानी की मुक्त अवस्था में उसे ब्रह्म के समान रूप से सम्पन्न होना मानते हैं। छान्दोग्य (८।७।१) मुक्त पुरुष सत्य काम, सत्य संकल्प युक्त होता है, यह धर्म ब्रह्म के ही हैं, मुण्डक (३।१।३) 'मुक्त जीव निर्मल होकर परम समता को प्राप्त होता है। यह वर्णन ब्रह्म और मुक्त जीव का सात्म्य-भाव सिद्ध करते हैं।

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ।। ६ ।।

सूत्रार्थ—चितितन्मात्रेण=आत्मा चैतन्य रूप है, उसी रूप में स्थित रहता है, तदात्मकत्वात्=क्योंकि वह वैसा ही है, इति =ऐसा, औडुलोमिः=आचार्य औडुलोमि का कथन है।

व्याख्या—जीवात्मा चैतन्य स्वरूप है, अपने उसी रूप में स्थित रहता है, श्रुति भी उसका वैसा ही रूप बताती हैं। वृहदारण्यक (४।५। १३) के अनुसार 'नमक के डला के बाहर-भीतर कुछ अन्तर नहीं होता, वैसे ही यह आत्मा बाहर-भीतर के भेद से परे है।'

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ।। ७ ।।

सूत्रार्थ—एवम्=इस प्रकार चैतन्य स्वरूप में स्थित मान लेने पर, और, उपन्यासात्=उस जीवात्मा का श्रुति में स्वरूप वर्णन होने से, (तथा), पूर्व भावात्=पहिले कहे गए भाव से, अपि=भी, अविरोधम्=आत्मा के सत्य काम, सत्य-संकल्प आदि गुणों में कोई बिरोध नहीं होता, बादरायणः=आचार्य बादरायण का ऐसा मत है।

व्याख्या—आचार्य औडुलोमि के मत में जीवात्मा का चैतन्य रूप होना जो बताया गया है, उस मत को मान लेने पर, तथा उससे पहिले आचार्य जैमिनि द्वारा मुक्त अवस्था में जीवात्मा को ब्रह्म के समान रूप से सम्पन्न होना कहने पर भी उसके सत्य-काम, सत्य-संकल्पत्व होने में कोई विरोध नहीं है, ऐसा आचार्य बादरायण मानते हैं।

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ।। ८ ।।

सूत्रार्थ—तु=किन्तु, संकल्पात्=संकल्प से, एव=ही ऐसा होता है, तच्छ्रुतेः=श्रुति ऐसा कहती है।

व्याख्या—उन भागों की प्राप्ति संकल्प से ही सम्भव होने से मुक्त पुरुष को सत्य संकल्प कहा है। छान्दोग्य (८।२।१) "यं काम

कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते" के अनुसार 'जो जिस कामना को करता है, वह कामना इस मुक्त जीवात्मा के संकल्प से ही सम्पन्न होती है।' इससे सिद्ध हुआ कि अपने मानसिक संकल्प के अनुसार ही ज्ञानी को फलों की प्राप्ति होती है।

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—च=और, अतएव=इसीलिए, अनन्याधिपतिः=वह स्वयं ही अपना स्वामी (अधिष्ठाता) होता है।

व्याख्या—मुक्त पुरुष के सत्य संकल्प होने के कारण ही उसका कोई अन्य अधिष्ठाता नहीं होता, वह स्वयं ही अपना स्वामी होता है। यदि उसका अधिष्ठाता अन्य कोई होता तो वह सत्य संकल्प नहीं हो सकता। श्रुति में कहा है "स स्वराट् भवति" अर्थात् 'वह अपना स्वामी होता है।'

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—बादरिः आह=बादरि कहते हैं कि, अभावम्=मुक्त पुरुष के देह और इन्द्रिय नहीं होती, हि एवम्=ऐसा ही श्रुति कहती है।

व्याख्या—बादरि आचार्य मुक्त पुरुष के देह और इन्द्रियों का होना नहीं मानते। छान्दोग्य (८।१२।१) "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" 'शरीर छोड़ने पर सुख-दुःख से उसका कभी स्पर्श नहीं होता।' इसी प्रकार 'जीव का देह से निकल कर ब्रह्मलोक में पहुँचने पर ब्रह्म की प्राप्ति के पश्चात् अपने रूप में निष्पन्न होना' भी छान्दोग्य की एक श्रुति में ही कहा गया है।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—जैमिनिः=आचार्य जैमिनि के मत में, भावम्=मुक्त जीवात्मा के शरीर होने की मान्यता है, क्योंकि, विकल्पामननात्=बिना देह के, देह का विकल्प सम्भव नहीं है।

व्याख्या—आचार्य जैमिनि मुक्त पुरुष का देह होना स्वीकार करते है, क्योंकि शरीरों का विकल्प श्रुति कहती है। छान्दोग्य में "स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा भवति, सप्तधा भवति, नवधा" इत्यादि से संकल्प के अनुसार ही मुक्त पुरुष एक, तीन, पांच, सात, नौ, ग्यारह, सौ, हजार, इस तरह अनेक प्रकार शरीर रख सकता है। यहाँ शरीर से स्थूल शरीर का ही भाव होना सम्भव है।

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—बादरायणः=आचार्य बादरायण का मत है कि, अतः=इन (उपरोक्त) दोनों मतों से, द्वादशाहवत्=द्वादशाह यज्ञ की 'सत्र' और 'अहीन' इष्टि के भेद के समान, उभयविधिम्=दोनों मान्यताएँ ही ठीक हैं।

व्याख्या—आचार्य बादरायण कहते हैं कि जैसे द्वादशाह यज्ञ एक ही है, किन्तु 'सत्र' और 'अहीन' के भेद से उसके दोनों रूप हैं, वैसे ही मुक्त पुरुष का शरीरयुक्त और शरीर-रहित दोनों प्रकार का होना सम्भव है। मानसिक संकल्प में शरीर आदि के होने से शरीर रहेगा और संकल्प का अभाव होने से देह, इन्द्रियों का भी अभाव रहेगा। इससे सिद्ध होता है कि मुक्त पुरुष का शरीरत्व और अशरीरत्व दोनों ही मान्यताऐं ठीक हैं।

तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—तन्वभावे=शरीर का अभाव होने पर, संध्यवत्=स्वप्न में भोगों की प्राप्ति के समान, उपपत्तेः=प्राप्ति होती है।

व्याख्या—जैसे स्वप्न में मानसिक संकल्परूप भोगों की प्राप्ति, जाग्रत्-अवस्था से विलक्षण होती है और जीव मन से ही विभिन्न प्रकार के भोग भोगता है, वैसे ही मुक्त अवस्था में, ब्रह्मलोक में भी शरीर के बिना ही, सभी दिव्य भोगों की प्राप्ति हो सकती है।

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—भावे=इन्द्रिययुक्त देह होने पर, जाग्रद्वत्=जाग्रत् अवस्था के समान (भोगों की प्राप्ति होती है)

व्याख्या—जिस मुक्त जीवात्मा को शरीर प्राप्त होता है, वह मनुष्य देह में जाग्रत्-अवस्था के समान ही सब विषयों का उपभोग करता है।

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—प्रदीपवत्=दीपक के समान, आवेशः=मुक्तात्मा का प्रवेश होता है, तथा हि=ऐसा ही, दर्शयति=श्रुति दिखाती है।

व्याख्या—जैसे एक दीपक में अनेक बत्तियाँ प्रकाशित होती हैं, अथवा एक स्थान पर रखा दीपक का प्रकाश, अनेक स्थान पर प्रकाश करता है, वैसे ही मुक्त हुआ जीवात्मा संकल्प से प्राप्त सम्पूर्ण देह में व्याप्त होकर भोगों का उपयोग करता है।

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—स्वाप्ययसम्पत्त्योः=सुषुप्ति और मोक्ष, (इन दोनों में से), अन्यतरापेक्षम्=किसी एककी अपेक्षा से, हि=ही, अविष्कृतम्=ऐश्वर्य की प्राप्ति सम्भव है।

व्याख्या—'स्वाप्यय' अर्थात् सुषुप्ति और 'सम्पत्त्यो' अर्थात् मोक्ष, इन दोनों में से एक अवस्था की अपेक्षा से ही ऐश्वर्य का प्रकट होना कहा है। क्योंकि सुषुप्तावस्था में आनन्द का यथार्थ भोग नहीं होता, किन्तु, मुक्तावस्था में संकल्प मात्र से ही ऐश्वर्य की सिद्धि होती है। इस स्थिति में सर्वज्ञता का आविर्भाव जीवात्मा की विशेष स्थिति है, क्योंकि सुषुप्तावस्था में ज्ञान का सर्वथा अभाव रहता है।

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—जगद्व्यापारवर्जम्=जगत् की रचना, स्थिति और

संहार आदि के व्यापार को छोड़कर, प्रकरण से यही जाना जाता है च=और, असन्निहितत्वात्=मुक्त पुरुष का व्यापकत्व न होने से (यही ठीक है)।

व्याख्या—मुक्त जीवात्मा में परब्रह्म के समान व्यापक न होने से जगत् की रचना आदि कार्यों को करने का सामर्थ्य नहीं कहा है। श्रुति में भी, जहाँ-जहाँ जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन हुआ है, उस प्रकरण में यह सभी कार्य एक मात्र ब्रह्म का ही बताया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा केवल ब्रह्मलोक के दिव्य भोगों का उपयोग करने में समर्थ है, किन्तु ब्रह्म के कार्य—रचना आदि की उसमें सामर्थ्य नहीं है।

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिक मण्डलस्थोक्तेः ॥१८॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, प्रत्यक्षोपदेशात्=जीवात्मा का वहाँ पहुँचकर इच्छानुसार कार्य करने का प्रत्यक्ष उपदेश होने से सामर्थ्य होना सिद्ध होता है तो, इति न=ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि, अधिकारिकमण्डलस्थ=अधिकारों में नियुक्त लोकों के भोगों की प्राप्ति के विषय में ही, उक्तेः=कहा गया है।

व्याख्या—यदि कहो कि श्रुति में "स स्वराट् भवति" कहने से उसका 'स्वराट्त्व' और सब लोकों में इच्छानुसार गमन का सामर्थ्य सिद्ध होता है। इससे यह भी जान पड़ता है कि उसका जगत्-रचना आदि कार्यों में भी अधिकार है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जीवात्मा का स्वराट्त्व असीमित नहीं कहा गया, वह हिरण्यगर्भ आदि लोकों में विचरण का सामर्थ्य रखता है और ब्रह्म की विभूति रूप लोकों के भोगों को स्वेच्छानुसार भोगता रहता है। परन्तु, उसका स्वराट्त्व सृष्टि-रचना आदि कार्यों तक विस्तृत नहीं है। उसकी स्वतन्त्रता केवल दिव्य भोगों को भोगने तक ही है।

विकारवर्ति च तथा हि स्थितिमाह ।। १९ ।।

सूत्रार्थ—विकारावर्ति=मुक्त जीवात्मा विकार-रहित ब्रह्म का अनुभव करता है, क्योंकि, तथा च=उसकी वैसी, हि=ही, स्थितिम्=स्थिति को, आह=श्रुति कहती है।

व्याख्या—मुक्त जीवात्मा तो विकार रहित परब्रह्म का ही अनुभव करता रहता है, "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति" के अनुसार 'वह ब्रह्म ही रस है, उसे प्राप्त होकर आत्मा आनन्दी हो जाता है।' इससे ब्रह्मविद्या की सार्थकता ब्रह्म की उपलब्धि में ही सिद्ध होती है।

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने । २० ।।

सूत्रार्थ—च=और, एवम्=इस प्रकार सामर्थ्य वाला नहीं हो सकता, एवम्=इस प्रकार, प्रत्यक्षानु माने=श्रुति और स्मृति से, दर्शयतः=देखा जाता है।

व्याख्या—मुक्त जीवात्मा सृष्टि का नियामक नहीं हो सकता, यह श्रुति और स्मृति के प्रमाणों से भी सिद्ध होता है। श्रुति में ब्रह्म का निर्गुणत्व प्रतिपादित किया गया है "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं" इत्यादि कठ श्रुति के अनुसार 'सूर्य भी उस ब्रह्म में प्रकाशित नहीं होता तो वहाँ चन्द्रमा, तारागण, अग्नि आदि के प्रकाशित होने का प्रश्न ही क्या है ? इससे पर-ज्योति विकार में न होना सिद्ध होता है। छान्दोग्य के अनुसार 'अन्य लोकों के समान विकारी न होने से ब्रह्मलोक अविकारी है, वह, नित्य और सब पापों से परे है। ब्रह्म के धर्म से युक्त ब्रह्मलोक में स्थित होकर जीवात्मा वहाँ के भोगों का ही अधिकारी सिद्ध होता है, ब्रह्म के धर्म से युक्त नहीं होता। क्योंकि 'ब्रह्म को ही सर्वेश्वर' कहा गया है। स्मृति में भी ब्रह्म को ही सृष्टि का नियामक कहा है। न्यून सामर्थ्य वाला महान् सामर्थ्य वाले को प्राप्त होकर उसके आश्रय से गुण-सम्पन्न हो सकता है, इसे मानने में कोई विरोध उपस्थित नहीं होता।

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ।। २१ ।।

सूत्रार्थ—भोगमात्रसाम्यलिङ्गात्=ब्रह्म के समान अनुभव-रूप भोग मात्र से, च=भी (जीव जगत्-स्रष्टा नहीं हो सकता।)

व्याख्या—ब्रह्म के समान सत्य संकल्पत्व आदि गुणों का जीवात्मा में समावेश रहने से उसको ब्रह्म के समान कहा गया है। "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" से मुक्तात्मा की भोग मात्र में ही ब्रह्म की समानता समझनी चाहिए, किन्तु, स्वरूप और सामर्थ्य में भेद है। इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा जगत् का रचना आदि कार्य नहीं कर सकता।

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।। २२ ।।

सूत्रार्थ—अनावृत्तिः=ब्रह्म को प्राप्त होने वाले का पुनरागमन नहीं होता, शब्दात्=श्रुति-वाक्यों से यह सिद्ध हो चुका है। अनावृत्तिः शब्दात्=पुनरागमन नहीं होता यह शब्द प्रमाण से सिद्ध है। (दो बार कहा जाना समाप्ति का सूचक है)।

व्याख्या—जो जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, वह संसार में लौट कर नहीं आता। इस संसार के जन्म-मरण वाले चक्र से वह सर्वथा मुक्त हो जाता है। "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इस प्रकार ब्रह्म लोक को पाकर इस मानव लोक में नहीं आते, यह सिद्ध हो गया।

।। चतुर्थः पादः समाप्त ।।

।। चतुर्थोऽध्यायः सम्पूर्णम् ।।

।। वेदान्त दर्शन समाप्त ।।

देववाद का वैज्ञानिक स्वरूप

भाग-१

विष्णु रहस्य



देवी देवताओं सम्बन्धी इस विशाल ग्रंथ में समस्त शंकाओं व भ्रान्तियों का युक्तियुक्त समाधान व विश्लेषण किया गया है। यह चार खण्डों में प्रकाशित हो रहा है। पहला खण्ड 'विष्णु रहस्य' प्रस्तुत है। इसमें विष्णु का जो वेदों, उपनिषदों, पुराणों, ब्राह्मण ग्रंथों, महाभारत, स्मृति, रामायण, गीता, बौद्ध सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य, संत साहित्य, मध्यकालीन काव्य साहित्य और भारतीय ललितकलाओं आदि में महत्वपूर्ण स्थान है, उसका सुन्दर विवेचन किया गया है।

इसमें विष्णु के श्याम व श्वेत वर्ण, शालग्राम शिला, चतुर्भुजी व अष्टभुजी रूप, सुदर्शन चक्र, कमल, शंख, गदा, कौस्तुभ मणि, वैजयन्ती-माला, यज्ञोपवीत, धनुष, वाण, खड्ग आदि के आध्यात्मिक भावों की अभिव्यञ्जना है, समुद्र मंथन, मोहिनी रूप, गजेन्द्र मोक्ष, भृगु वृन्दा सम्बन्धी कथाओं पर प्रकाश डाला गया है, विष्णु के ३ पग, शेष, वामन, क्षीर सागर, लक्ष्मी, गरुड़, सूर्य, आदि का वैज्ञानिक विवेचन है, दस अवतारों का बौद्धिक चित्रांकन है। इस विषय की यह सर्वप्रथम पुस्तक है।

सुन्दर छपाई, बढ़िया कागज, मजबूत जिल्द, नयनाभिराम कवर

मूल्य भाग १ — ६) छै रुपए मात्र

सांस्कृतिक विचारधारा के प्रसार का प्रतिनिधि मासिक पत्र

"युग-संस्कृति"

'युग-संस्कृति' युग की वाणी व पुकार है। इसका उद्देश्य नवीन, आधुनिक, वैज्ञानिक ढंग से भारतीय संस्कृति की विशेषताओं, महत्ताओं, विचारधाराओं व परम्पराओं का बौद्धिक आधार पर प्रतिपादन करना है। भारतीय तत्त्वज्ञान के मूलाधर तत्वों का स्पष्टीकारण करके संस्कृति के विशुद्ध व परिष्कृत रूप को जनता के सम्मुख रखना है। व्रत, त्यौहार, उत्सवों, रीतिरिवाजों, आचार विचार, पूजा उपासना पद्धति की मनोवैज्ञानिक उपयोगिता को प्रस्तुत करना है। वेद विज्ञान, संस्कार विज्ञान, योग विज्ञान, परलोक विज्ञान, तुलसी विज्ञान, पुराण विज्ञान, उपासना विज्ञान पर प्रकाश डालना है। ऋषि चरित्रों, व्रत कथाओं व पुराणों में असम्भव दिखाई देने वाली कथाओं में निहित वास्तविक तथ्यों का अनुसंधान करना है। उपनिषदों की ज्ञान गंगा का प्रवाह, स्मृतियों की नीति, रामायण की पारिवारिक शिक्षा व गीता का तात्विक विवेचन इसकी विशेषता है। धर्म व संस्कृति की भावना का व्यापक विस्तार, समाज का नव-निर्माण, व नैतिक पुनरुत्थान इसका लक्ष्य है।

यदि आप अपने धर्म के प्रत्येक अंग को आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरना देखना चाहते हैं तो युग-संस्कृति को पढ़ें।

पुस्तक साइज के ७० पृष्ठों व वर्ष के आरम्भ में २०० पृष्ठों के विशेषांक के साथ बढ़िया ग्लेज कागज के दोरंगे टाइटिल से सुसज्जित होने पर भी मूल्य केवल ४, वार्षिक है।

नमूने की प्रति मुफ्त मँगाइए

प्रकाशक : संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली।

आवरण पृष्ठ—कैलाश प्रिंटिंग प्रेस, मथुरा।